रंग संवाद

जनवरी 2017

वनमाली सृजन पीठ की
संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे
choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय
vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : rangsamvad@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित
मुद्रक - प्रियंका ऑफसेट, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस बार

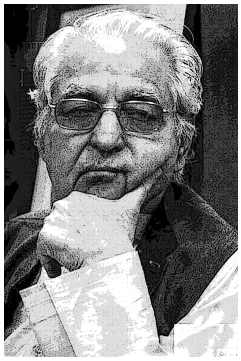

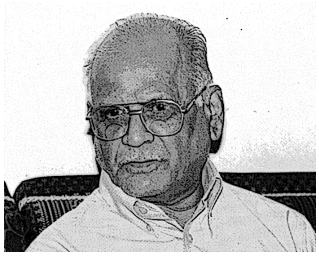

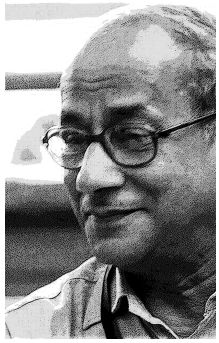

साहित्य और आम आदमी की दुनिया का फ़ासला कम हो! / 5
कवि-संपादक **मंगलेश डबराल** से **बलराम गुमास्ता, विनय उपाध्याय** और **अरुणेश शुक्ल** की बातचीत
बहते सुर का दरिया - **मुकुन्द लाठ** / 16
लोक साहित्य में सांस्कृतिक चेतना - **वसंत निरगुणे** / 20
अनहद बाजा बाजै **- श्रीराम परिहार** / 22
अस्तित्व का सवाल - **वंदना ठाकुर** / 24
बे रंगमंच - **मीनाक्षी तिवारी** / 27
नाट्य परिधान / **नाट्य भारती से** 31
कला लेखन का सच - **विनय उपाध्याय** / 34
कहानी का जगमग संसार - **संतोष चौबे** / 36
हाँ! कौतुक ही तो था - **श्रीराम परिहार** / 42
आधुनिक ऋषि थे अनुपम - **विजय बहादुर सिंह** / 43
विलक्षण संगीतकार - **अस्मिता** / 45
मनुष्यता की महक - **सुनील मिश्र** / 47
कलात्मक छायांकन का अनूठा चितेरा - **विनय उपाध्याय** / 49
सुरीली हसरतों का सफ़र - **एस.डी. सोनी** / 52
थम गई जीवन की ताल - **रामवल्लभ आचार्य** / 54
सृजन के आसपास (साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ) - 55

- **आकल्पन :** विनय उपाध्याय
- **भीतर के छायाचित्र :** विजय रोहतगी, नीरज रिछारिया, सौरभ अग्रवाल, विशाखा राजुरकर, अमीनुद्दीन शेख।
- **सहयोग** : हेमंत देवलेकर, विक्रांत भट्ट।

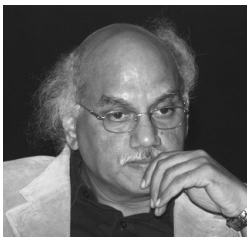

यह अंक

'रंग संवाद' का यह अंक एक विशेष अंक इसलिये है कि ये एक विशेष अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। यह विशेष अवसर है अविभाजित मध्यप्रदेश के समस्त कथाकारों पर केंद्रित 'कथा मध्यप्रदेश' के प्रकाशन एवं लोकार्पण का जो मध्यप्रदेश की पिछले सौ सालों की कथा यात्रा को रेखांकित करता है। इसी के साथ 'वनमाली सृजन पीठ' भी अपनी रचनात्मक यात्रा के 25 साल पूरे कर रही है और दसवें वनमाली कथा सम्मान का आयोजन भी किया जा रहा है। देशभर के लगभग 250 से अधिक लेखक-रचनाकार इस अवसर पर आमंत्रित हैं और उनके साक्ष्य में यह समारोह सम्पन्न हो रहा है।

•

साहित्य के सामने आज तीन तरह की चुनौतियाँ हैं, पहली है दृश्य से पूरी तरह घिर जाने की चुनौती। दृश्य माध्यमों के अभूतपूर्व विस्तार के कारण दृश्य ने हमें इस कदर घेर लिया है कि साहित्य में शब्दों के माध्यम से बिंब और चित्रात्मकता की प्रस्तुति, कम से कम अपने पुराने रूप में, असंभव सी लगती है। दृश्य का विस्तार और गति इतनी ज्यादा है कि उसी की तरह की चमक और गतिशीलता साहित्य में शायद कोई प्रभाव न छोड़ पाये। साहित्य के सामने रास्ता संवेदनात्मक गहराई बढ़ाने का है। उसे उन स्थानों पर जाना पड़ेगा जहाँ दृश्य माध्यम नहीं जा पा रहे।

संपादकीय

दूसरी चुनौती बढ़ते हुये बाजारीकरण की है जहाँ हर वस्तु, जिसमें मनुष्य और मानवीय अनुभूतियाँ भी शामिल हैं, एक उत्पाद के रूप में परिवर्तित की जा रही है। ऐसा करते हुये सभी उच्चतर मानवीय उपकरण कला, साहित्य, संगीत, मनुष्य को वह आंतरिक और आध्यात्मिक ऊंचाई नहीं दे पा रहे जहां से वह अपने जीवन में सुंदरता, कोमलता, प्रेम और परमार्थ जैसी अच्छाई बरकरार रख पाता। दूसरी ओर बाजारीकरण ने ऐसी क्रूर और कठोर दुनिया का निर्माण किया है जहाँ आर्थिक विषमता और उससे उत्पन्न होने वाली निर्दयता, आतंक और पाशविकता ने दुनिया को असहनीय बना दिया है। साहित्य लंबी मानवीय परंपरा से प्राप्त ज्ञान को पुनर्स्थापित करते हुये इस परिस्थिति से जूझ सकता है।

साहित्य के सामने तीसरी चुनौती स्वयं भाषा, विशेषकर हिन्दी भाषा, को अनावश्यक प्रभावों से बचाने और उसे और अधिक समृद्ध तथा व्यापक बनाने की है। सूचना तकनीक के आगमन और विस्तार के बाद एक ओर जनतांत्रिकता का विस्तार हुआ है और दूसरी ओर ब्लॉगिंग एवं सोशल साइट्स के माध्यम से ऐसी भाषा बन रही है जो पारंपरिक हिन्दी से बहुत अलग है। इसी के साथ बड़ी संख्या में स्त्री पुरुष पिछले दो दशकों में साक्षर हुये हैं और उन्होंने अभी-अभी लिखे हुये को जानना शुरू किया है। वे अपने शब्द, अपनी ध्वनियाँ, अपनी बोली लेकर आये हैं और उन्हें भाषा में शामिल होना है, संवाद में शामिल होना है। यह प्रक्रिया स्वागत योग्य है पर सांस्कृतिक साक्षरता और भाषाई चेतना की दृष्टि से चुनौतीपूर्ण भी। इन समूहों से संवाद आज की बड़ी ज़रूरत है।

•

मेरे लिये साहित्य और कला की संगत एक निष्क्रिय कर्म नहीं। वह सक्रिय रूप में अपने आसपास को, अपने मित्र रचनाकारों को और अपने समय को समझना है और यह प्रक्रिया मेरे मन में निरंतर जारी रहती है। इसमें व्यक्ति-रचनाकार की भी महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि रचना तो वही कर रहा है।

मेरी कोशिश है कि मैं रचनाकार के पास जाऊँ इसके बदले कि उससे किसी पूर्व रचित प्रतिमान पर खरे उतरने का आव्हान करूँ। देखूँ कि वह क्या रच रहा है, उसकी रचनात्मक प्रक्रिया क्या है और कैसे वह उसका विस्तार कर सकता है। मैं 'बड़े' और 'छोटे' की बहस में नहीं हूँ क्योंकि जैसा मुक्तिबोध ने कहा, हर व्यक्ति में हीरे के कण छुपे हैं और उन्हें पहचाना जा सकता है।

मैं सिर्फ उपभोक्ता नहीं कला के कार्य-व्यवहार में सक्रिय भागीदार हूँ और ऐसे स्वस्थ वातावरण का निर्माण करना चाहता हूँ जहाँ रचनाकार को आनंद और प्रकाश महसूस हो सके और वह दूने उत्साह से अपने काम में जुट सके। मेरे लिये आलोचना सिर्फ भाषाई प्रत्यालोचना नहीं है बल्कि समग्र अनुभव है, वह किसी चाक्षुष और भौतिक अनुभव यानी समग्र जीवन से भी निकल सकती है।

इसी तरह मुझे लगता है कि कविता संगीत के पास जाती है और संगीत कविता के पास। कहानी नाटक के पास जाती है और नाटक कहानी के पास। कविता कहानी के पास भी जा सकती है और कहानी चित्रकला से भी प्रभाव ग्रहण कर सकती है। विधाओं के बीच ये आवाजाही मुझे बहुत आकर्षित करती है और एक हद तक आवश्यक भी लगती है। हमें अपनी आलोचना में इस आवाजाही को भी चिन्हित कर सकना चाहिये क्योंकि अब पुरानी तरह की विभाजक रेखायें नहीं रहीं और उन्मुक्त संवाद सभी कलाओं में जारी है। फिर भी मेरा कोई बड़ा दावा नहीं है। मैं सिर्फ ऐसी विचार प्रक्रिया या आलोचना प्रक्रिया की ओर इंगित करना चाहता हूँ जो बदलते समय के लिये ज़रूरी है, जनतांत्रिक है और जिसके बिना हमें बहुत नुकसान हो रहा है।

•

इस बीच प्रख्यात पर्यावरण विद् एवं लेखक अनुपम मिश्र, चित्रकार लक्ष्मण भांड, नाटककार,-आलोचक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, छायाकार वामन ठाकरे, तबला वादक रामस्वरूप रतौनिया नहीं रहे। उन्हें 'रंग संवाद' की ओर से विनम्र श्रद्धांजलि। उन पर आलेख भी इस अंक में जा रहे हैं।

•

आप सबको नववर्ष की शुभकामनाओं सहित,

23 जनवरी 2017 **-संतोष चौबे**

साहित्य और आम आदमी की दुनिया का फ़ासला कम हो!

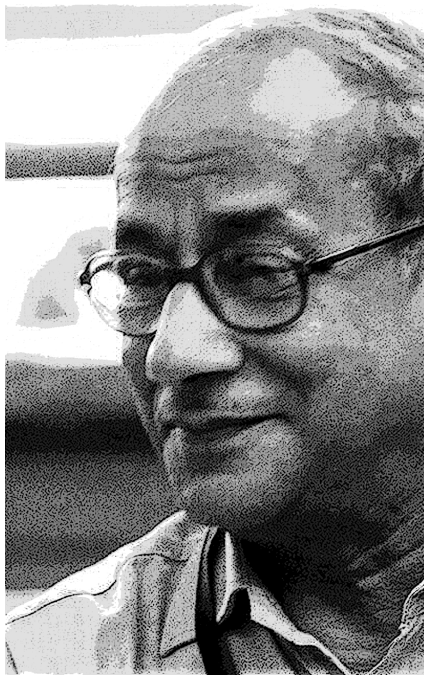

पहाड़ पर लालटेन की रौशनी में ज़िंदगी के सबक सीखकर कला और कविता की दुनियाँ में पूरे दमखम से दाखिल हुए मंगलेश डबराल, एक मुद्दत बाद दिल्ली से भोपाल आये। निमित्त बना कथाकार संतोष चौबे के हाल ही भारतीय ज्ञान पीठ से छपकर आये उपन्यास 'जलतरंग' का लोकार्पण। अलावा इसके आईसेक्ट स्टूडियो में लंबी वार्ता की और वनमाली सृजन पीठ के इसरार पर एक सुबह अध्ययन-शोध केंद्र आए। उन्होंने जिज्ञासु युवा कलाकारों से दिलचस्प और ज्ञानवर्धक सांस्कृतिक-संवाद किया। कुछ नई-पुरानी कविताएँ भी सुनाईं। यूँ परस्परता का बहुत ही आत्मीय परिवेश बना। स्टूडियो में कविता, कला और संगीत के परस्पर रिश्तों के साथ ही इस दौर की सांस्कृतिक और सामाजिक चिंताओं पर भी सवाल-जवाब हुये।

कवि-संपादक मंगलेश डबराल से बलराम गुमास्ता, विनय उपाध्याय और अरुणेश शुक्ल की बातचीत

बलराम गुमास्ता : मंगलेश जी, नमस्कार! आपका बहुत-बहुत स्वागत। सर, जैसे कि आज सभी समकालीन कवियों में आपका विशेष महत्व है। आपकी कविता में एक ऐसा आन्तरिक संगीत चलता रहता है, जो आपकी कविता को ज्यादा मार्मिक और संवेदनशील बनाता है। क्या आपने कभी कोई संगीत की व्यवस्थित ट्रेनिंग वगैरह ली है या ऐसा कुछ?

मंगलेश डबराल : बलराम जी, आपके इन शब्दों के लिए धन्यवाद। मुझे नहीं मालूम कि मेरी कविताओं का क्या महत्त्व है। लेकिन जहाँ तक संगीत की बात है, मेरे पिता खुद गाते थे, नाटकों में अभिनय करते थे, नाटकों का निर्देशन करते थे और हारमोनियम बजाते थे। उन्होंने बाकायदा शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ली थी और वे सांस्कृतिक गतिविधियों में काफी सक्रिय थे। हालाँकि हमारे गाँव के आसपास एक बहुत-छोटा-सा कस्बा था, पन्द्रह-बीस दुकानों का, जहाँ मेरे पिता का आयुर्वेदिक औषधालय था। बचपन में मैंने संगीत खूब सुना। पिताजी रोज़ ही हारमोनियम पर सुनाते थे। तो यहाँ से मैं सुनता रहा। खुद मैं कुछ सीख नहीं पाया। सिर्फ हारमोनियम पर उँगलियाँ चलाना सीख पाया, लेकिन संगीत के वो संस्कार मेरे भीतर रहे। उसके बाद जब मैं शहरों में आया, मैंने संगीत बहुत सुना ख़ासकर पहाड़ी राग-दुर्गा और पहाड़ में जो राग हैं- वहाँ पाँच सुरों के राग ज्यादा होते हैं, जैसे सारंग है, दुर्गा है या दूसरे राग हैं। मेरे पिता अक्सर इन्हें गाया-गुनगुनाया करते थे। इन सबका असर मेरे मन पर बहुत पड़ा और फिर शहर में आकर भी संगीत को लेकर मेरे अन्दर एक छटपटाहट मौजूद रही। फिर बाद में काफी बड़े-बड़े लोगों को सुना।

विनय उपाध्याय : मंगलेश जी, यह पृष्ठभूमि आपके साथ जुड़ी रही और इस तरह से अवचेतन में बचपन में ही सुर का संस्कार आपके भीतर रच-बस गया। लेकिन उस समय कविता का संस्कार क्या परोक्ष रूप से कहीं और से आपको मिल रहा था? कविता के प्रति आपकी रुचि कैसे जाग्रत हुई?

- असल में मेरे पिता गढ़वाली के भी कवि थे और उनकी तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने खण्डकाव्य भी लिखा था- कन्या विक्रय की प्रथा पर, उसका नाम था- 'फ्यूंली और सत्यनारायण की कथा, जो कि हमारे यहाँ सब जगह प्रचलित है, उन्होंने गढ़वाली भाषा में छन्दबद्ध अनुवाद किया था और उन्हीं छन्दों में अनुवाद किया था जिन छन्दों में वो मूल कथा लिखी गयी है। उनको बहुत अच्छा छन्द ज्ञान था। मेरे दादा खुद भी साहित्य, ज्योतिष और वैद्यिकी माने आयुर्वेद के गहरे जानकार थे। उन्होंने भी गढ़वाली कहावतों का एक बड़ा संग्रह तैयार किया था। हमारे घर में बहुत-सी किताबें थीं, मुझे पढ़ने को मिलीं। संस्कृत का काफी बोलबाला था। बचपन में मैंने बहुत सारी चीज़ें संस्कृत की पढ़ ली थीं इस तरह की। 'मेघदूत' या जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' मैंने काफी छोटी उम्र में ही पढ़ लिये थे और कण्ठस्थ कर लिये थे।

बलराम गुमास्ता : देश ने आज़ादी के बाद जो आधुनिकता अर्जित की, वो आधुनिकता के जो मूल्य थे, बहुत सारे तो आयातित मूल्य थे हमारे। ज़मीन से जिसका लेना-देना नहीं था और समकालीनता तक आते-आते- इस बीच में बहुत सारा लेखन जो हुआ वो कई नारों में चला गया, जिसमें बहुत भारी नुकसान लिखने-पढ़ने का हुआ। कई जगह तो पार्टियों के मेनिफेस्टो लिखे गये। कवियों ने भी लिखे और गद्य में भी यह हुआ। पर इस पूरे परिदृश्य में आप अकेले ऐसे कवि लगते है जो इससे बचे रहे और जिसने सचमुच रचना कर्म किया। ऐसा कैसे सम्भव हुआ? उसमें अतीत का भी सौन्दर्य है, समकालीनता का वो सारा सौन्दर्य आप लेकर चले, आधुनिकता के वो सारे मूल्य जो हमारे थे, मानवीय मूल्य थे, वो सब आपकी कविता में बचे हुए है।

- असल में मुझे लगता है कि मनुष्य का जो अतीत है, वो अतीत कभी नहीं होता, वो तो उसके भीतर ही रहता है। जैसे कि एक पेड़ के भीतर उसकी उम्र दर्ज होती रहती है, पेड़ के तने में, उसी तरह मनुष्य के भीतर भी उसकी उम्र दर्ज होती रहती है, उसका अतीत मौजूद रहता है। तो अतीत भी वर्तमान में ही जीवित रहता है, अन्यथा अतीत समाप्त हो जायेगा। उसको वर्तमान में जीवित रखने की मेरी जो कोशिश है। मुझे लगता है कि ये जो अतीत मेरे भीतर बसा हुआ है और फिर मैं जब शहरों में आया- मैं काफी कम उम्र में दिल्ली आ गया था- फिर मैं मार्क्सवाद के सम्पर्क में आया, उसका मुझ पर गहरा असर हुआ, जो आज भी है। अब यह कहना मुश्किल है कि मेरे भीतर जो है, वो मुझे लगता है पहाड़ की जो प्रकृति है- वहाँ का पानी, पेड़, पहाड़, पत्थर- ये सब मेरे भीतर भरे रहे, फिर उसके बाद मार्क्सवाद के सम्पर्क में आकर मुझे एक नया विज़न मिला, एक नयी अन्तर्दृष्टि, एक नयी दृष्टि मुझे प्राप्त हुई। हो सकता है कि इनके मेल से शायद कोई ऐसी चीज़ आयी हो जिसकी ओर आप इशारा कर रहे हैं, मुझे उसके बारे में ठीक-ठीक नहीं मालूम है।

लेकिन जहाँ तक नारे का सवाल है, देखिए मैं तो विचारधारा को बहुत ज़रूरी मानता हूँ और विचार को भी ज़रूरी मानता हूँ। मनुष्य बिना विचार के कुछ भी नहीं करता है। मुझे लगता है ऐसा तो पत्थर ही किया करते हैं बिना विचार के। मतलब पत्थर ही होगा वो आदमी। मुझे लगता है उसके साथ विचारधारा, लेकिन विचारधारा भी कविता में विचार की तरह आती है। वो किसी मेनिफेस्टो की तरह नहीं आयी। यहाँ हो सकता है कि उसके पीछे कोई मेनिफेस्टो काम कर रहा हो। हो सकता है कि उसके पीछे कोई स्पष्ट विचारधारा काम कर रही हो। लेकिन अन्ततः वो विचार और संवेदना में बदलकर आती है। मुक्तिबोध ने जो पदावली हम लोगों को दी थी कि ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान, मुझे लगता है कि इसी से रचना सम्भव है और मेरी निजी राय यह है कि विचार और कला, ये दोनों कविता के लिए अनिवार्य हैं।

मैं तो विचारधारा को बहुत ज़रूरी मानता हूँ और विचार को भी ज़रूरी मानता हूँ। मनुष्य बिना विचार के कुछ भी नहीं करता है। मुझे लगता है- ऐसा तो पत्थर ही किया करते है बिना विचार के। मतलब पत्थर ही होगा वो आदमी जिसके पास विचार नहीं है। कविता भी विचार की तरह आती है। वो किसी मेनिफेस्टो की तरह नहीं आती।

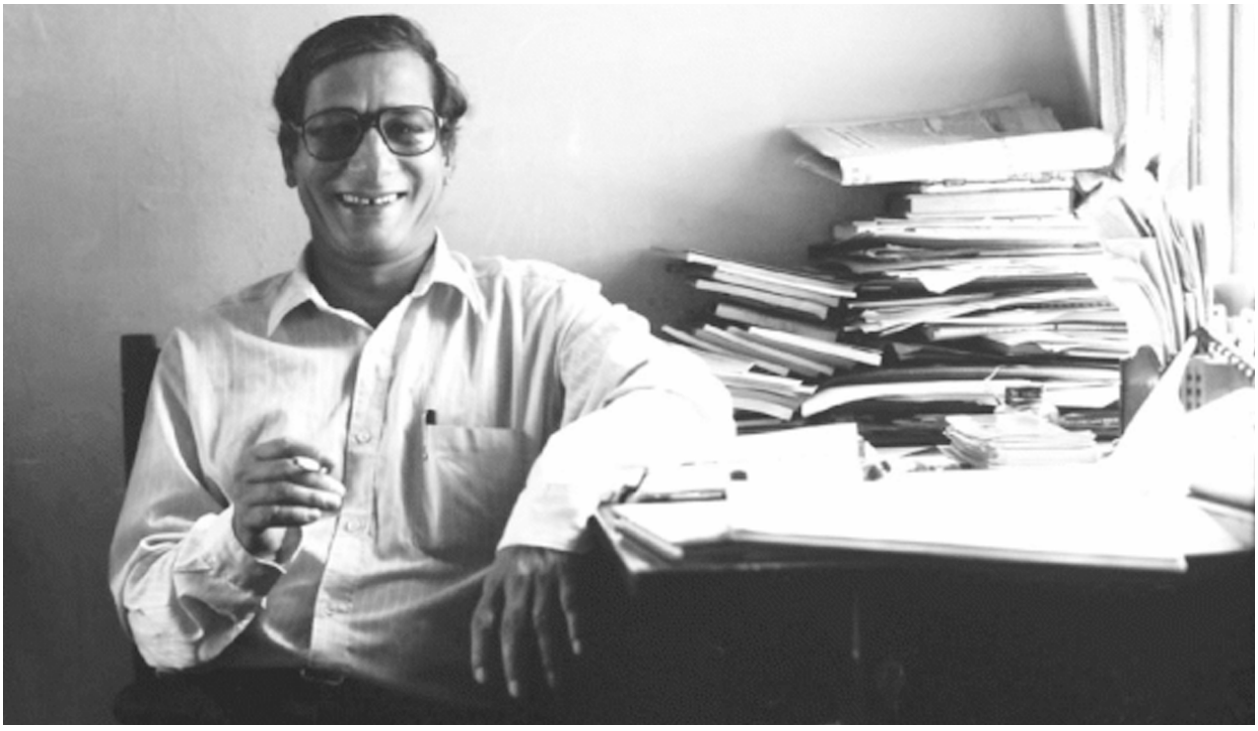

अरुणेश शुक्ल : आपकी कविताओं को पढ़कर यह लगता है, कि आपको अपने लोकेल की गहरी समझ है। अगर आपका आस-पड़ोस, आपका परिवेश, आपकी प्रवृत्ति कविता में आती है तो वो कहीं न कहीं एक सौन्दर्य की भूमि तैयार करती है और तब उस विचार के साथ मिलता है आपका लोकेल, वो भले ही विदेशी विचार है, जिसे कहा जाये बाहर से आया है। लेकिन उसके बावजूद चूँकि एक मानवीय कन्सर्न का विचार है, जब वो आपकी इन चीज़ों से मिलता है, फिर जब कविता का फॉर्म बनता है, कहते है कि वो कहीं ऐस्थेटिक्स की, उसकी पूर्ति करता है जिसकी आमतौर पर हम लोग शिकायत महसूस करते रहे है। हमारी समझ में क्या आप अपनी कविताओं के बारे में- ये हमें समझना था आपसे- कि संगीत का एक गहरा संस्कार आपके यहाँ मौजूद है और उसी दौर में जबकि कविता बहुत ज़्यादा गद्यात्मक होने लगी थी। बहुत सारी चीजें माने कविता को लेकर कुछ लोग कह रहे थे कि कविता का अन्त हुआ। तमाम तरह की बातें थी। ऐसे में आपका संगीत लेकर आना, मेन-स्ट्रीम किस तरह का रहा? क्या मुश्किल रहा स्टेबल होने में?

- आपके सवाल में मुझे लगता है कि दो सवाल हैं। देखिए, बाहरी विचार की बहस इस अर्थ में बेमानी है कि बाहर से क्या आया, ये कहना बहुत मुश्किल है। प्याज बाहर से आया है, लीची बाहर से आयी है, चाय बाहर से आयी है, लेकिन आज हम यह नहीं कहते कि चाय बाहर से आयी है। ये सारी चीज़ें मुझे लगता है कि दुनिया का हिस्सा हैं, सभ्यता का हिस्सा हो चुकी हैं। जो चीज़ें सभ्यता का हिस्सा बन चुकी हैं, उन चीज़ों को ये नहीं कहा जा सकता कि ये बाहर से आयी हैं।

सवाल ये है, मान लीजिए, अगर रूस में ये इस तरह माना जाता है कि रूस में तो मार्क्सवाद बाहर से आया है, तो रूस में कभी क्रान्ति नहीं होती और मुझे लगता है कि कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए मुझे लगता है कि जो विचार जन्म ले चुका है वो पूरी तरह मनुष्यता की धरोहर है। इसलिए बाहरी-भीतरी का कोई सवाल नहीं है। क्योंकि बाहरी-भीतरी वाली जो पॉलिटिक्स है वो बहुत खतरनाक है, उसके नतीजे बहुत खतरनाक हैं और जिनको हम आजकल देख रहे हैं हमारे अपने-अपने समाज में। संगीत का जहाँ तक सवाल है, मेरे ख्याल से मेरी कविताओं में संगीत के माध्यम से भी एक सामाजिक सच्चाई की पड़ताल की गयी है। जो इम्प्रेशनिस्टिक कविताएँ हैं, संगीत के बारे में, वो शायद एक-दो कविताओं को छोड़कर राग दुर्गा वगैरह हैं वो इम्प्रेशनिस्टिक की उतनी हैं, लेकिन उसके अलावा जो हैं, उसमें किसी न किसी सामाजिक द्वन्द्व की, सामाजिक सच्चाई की पड़ताल करने की कोशिश है और दूसरा यह कि कोई जानबूझकर तो नहीं किया गया। शायद कविता जानबूझकर नहीं लिखी जा सकती है। हो सकता है कभी-कभी लिखा जाये। लेकिन वो कविता शायद सहज ही आती है। क्योंकि संगीत बचपन में मेरे जीवन में काफी रहा, इसलिए संगीत उसमें आ गया। मान लीजिये, अगर बचपन में संगीत नहीं होता तो शायद संगीत नहीं आता।

विनय उपाध्याय : डबराल जी, जब बात कविता और संगीत की चल रही है, तब कविताओं के साथ संगीत का जो प्रयोग है विशेष रूप से, यूँ तो ठीक है कि हमारी श्रुति और स्मृति की जो परम्परा है वो बड़ी साझेदारी में शब्दों को लेकर चलती है और भक्ति संगीत तो हमारे पास आता ही ऐसा है। लेकिन हम आधुनिक कविता की बात करें तो जो संगीत से उसका रिश्ता हुआ है- क्या आपको लगता है कि वो भी उतना ही सार्थक, शाश्वत और रंजक है? जैसाकि हमारा पहला संगीत जो भाव और रस के साथ सट कर चलकर आता था? लेकिन आधुनिक कविताओं के साथ जब संगीत के प्रयोग की बात करें, तो क्या आपको लगता है कि वो पहले-सा रसायन पैदा हो पा रहा है?

- देखिए बात यह है, मुझे लगता है कि जो आपकी पुरानी कविता है, मसलन तुलसी की है, कबीर की है या सूरदास की है या भक्तिकाल की जितनी कविता है, बाकायदा संगीत में उनको ढाला गया है। संगीत के साँचे में उनको भेजा गया है। यानी वो एक विधा का दूसरी विधा में जाना था। सूरदास का पद मान लीजिये किसी राग में, बिलावल राग में प्रस्तुत किया गया। कबीर के जो पद हैं, उनका गुरुवाणी, गुरुग्रन्थ साहिब में बाकायदा रागों के साथ उल्लेख है। राग और ताल उसमें मिलते हैं- राग केदार और ताल। यानी उनको गाया गया। यह कहा जाता है कि गुरुग्रन्थ साहिब के दौर में, गुरुनानक के दौर में उन पदों का बाकायदा गायन हुआ और उसी के बाद उनका राग निर्धारण भी हुआ। उससे पहले ये उल्लेख नहीं मिलता है कि कबीर अपने पदों को गाते थे या नहीं गाते थे। ऐसा कोई उल्लेख नहीं है या जितने हमारे छन्द हैं वो सब गाये जाते थे, कुछ वैदिक छन्दों को छोड़कर, जैसे अनुष्टुप वगैरह-वगैरह।

पुरानी कविता मसलन तुलसी की, कबीर की या सूरदास की है या भक्तिकाल की जितनी कविता है, बाकायदा संगीत में उनको ढाला गया है। संगीत के साँचे में उनको भेजा गया है। यानी वो एक विधा का दूसरी विधा में जाना था। सूरदास का पद मान लीजिये किसी राग में, बिलावल राग में प्रस्तुत किया गया। कबीर के जो पद है, उनका गुरुवाणी, गुरुग्रन्थ साहिब में बाकायदा रागों के साथ उल्लेख है। राग और ताल उसमें मिलते है- राग केदार और ताल। यानी उनको गाया गया। यह कहा जाता है कि गुरुग्रन्थ साहिब के दौर में, गुरुनानक के दौर में उन पदों का बाकायदा गायन हुआ और उसी के बाद उनका राग निर्धारण भी हुआ।

विनय उपाध्याय : क्या संगीत आरोपित सा लगता है आधुनिक कविता में?

- मेरा कहना यह है कि वो एक छन्दमुक्त कविता है। उसके लिए कौन-सा संगीत उपयुक्त होगा, मुझे लगता है कि अभी इसको लेकर हल्का-फुल्का काम हुआ है। लेकिन शायद बहुत ज्यादा काम किया जाना बाकी है। हमारे बड़े कवि रघुवीर सहाय ने काफी काम किया था। उसके बाद नरेश सक्सेना ने थोड़ा-बहुत काम किया। लेकिन कोई बड़ा, गहरा और स्थायी काम हुआ नहीं है।

मेरे मन में आधुनिक कविता के संगीत की जो बात है, वो यही है कि उस कविता के भीतर से ही वो संगीत उपजेगा। मसलन, रघुवीर सहाय की एक कविता है- 'दे दिया जाता हूँ'। बहुत सुन्दर कविता है। बहुत ही सुन्दर है और वो मुझे बहुत प्रिय है। उसके साथ मैं कल्पना करता हूँ कि एक हल्का-सा सरोद बज रहा हो और वो सरोद आपकी ओर नहीं आ रहा हो, बल्कि आपसे दूर जा रहा हो। इस तरह का संगीत अगर हो, तो मुझे लगता है कि वो उस कविता के साथ न्याय होगा। आधुनिक कविता का गायन कम से कम हो और उसका वाचन सबसे अधिक हो- संगीत के भीतर। ऐसी कौन-सी प्रविधि हो सकती है जो कविता के वाचन को सुरक्षित रख सके गायन में।

विनय उपाध्याय : बिल्कुल ठीक। आपकी बात से इत्तेफ़ाक रखते हुए मै आपको बताना चाहूँगा कि जिस आईसेक्ट स्टूडियो में हम लोग बात कर रहे है, इसी आईसेक्ट स्टूडियो ने अपना एक अच्छा प्रकल्प 'कविता-यात्रा' का गढ़ा और 20वी सदी की कुछ श्रेष्ठ कविताओं को लेकर संतोष चौबे जी, राजेश जोशी, रामप्रकाश इत्यादि लोगों ने मिलकर एक चयन किया और 'कविता-यात्रा' को बाकायदा संगीतबद्ध कर दृश्य-श्रव्य के साथ प्रस्तुत करने का पूरा एक लंबा अभियान चलाया।

कोशिश ये है कि बुनियादी पाठ कविता का बना रहे, उसका अन्तर्निहित संगीत जो आप कह रहे है, जो मौलिकता के साथ आता है वो और उसके साथ कम्युनिकेटिव बनाने के लिए कि सम्प्रेषण का एक और नया धरातल तैयार हो। इसको लेकर कुछ प्रयोग किये हैं। लेकिन आप जो कह रहे है उसमें बहुत गहरे डूबने की- और अभिनव प्रयोग की आवश्यकता तो बनी हुई है। बहुत सारे गायकों ने भी ये प्रयोग किये है। अच्छी कविताओं को चुना है। मुझे याद आता है कि आकाशवाणी महानिदेशालय। मैं लीलाधर मण्डलोई जी का विशेष रूप से ज़िक्र करना चाहूँगा कि उन्होंने 'शब्द' और 'संगीत' को लेकर एक बड़ा अभियान आकाशवाणी में रहते चलाया। दूरदर्शन में भी एक हद तक किया। बहरहाल आपने जो सुझाव दिये हैं और आपने जो राय ज़ाहिर की, मैं उसका स्वागत करता हूँ।

- आईसेक्ट का जो इस तरह का प्रयास है, यह बहुत ही अच्छी बात है अपने आप में। शब्द और संगीत, इसके रिश्ते के बारे में शायद और सोचा जाना चाहिए। लेकिन मैं यहाँ पर एक बात ये ज़रूर कहना चाहता हूँ कि वो पद जो गेय हैं, जब उनका गायन होता है तो यह देखा गया है, मेरे ख़्याल से अमीर ख़ाँ साहब और कुमार गन्धर्व, दो लोगों को छोड़कर बाकी जो गायन है, उसमें कभी भी शब्दों को, उनके अर्थों को प्रमुखता नहीं दी गयी। होता यह है कि 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' जब हम कुमार गन्धर्व जी से सुनते हैं तो उसका अर्थ हमारे सामने खुलता है, वर्ड्स के अनेक स्तर हमारे सामने आते हैं और संगीत भी आता है। लेकिन जब कोई दूसरा गायक इसको गाता है तो वो अर्थ हमारी समझ में नहीं आता। क्योंकि वहाँ संगीत शब्दों पर हावी हो जाता है। तो ऐसा तरीका निकाला जाये कि संगीत शब्दों पर हावी न हो, तो शायद मुझे लगता है कि कविता के लिए उपयुक्त संगीत होगा।

विनय उपाध्याय : यही पर मंगलेश जी, हमको रंग संगीत अचानक कौधता है। दरअसल नाट्य संगीत वो संगीत है जिसमें पूरी कविता यानी शब्द भी दृश्य के साथ सटकर आता है और संगीत भी छाया की तरह आता है। तो उसका भी मज़ा है और शब्द का भी।

- मराठी में नाट्य संगीत है जिसमें कि बहुत अच्छे-अच्छे पद गाये गये हैं।

वनमाली सृजन पीठ भोपाल के अध्ययन केन्द्र में युवाओं के बीच कवि मंगलेश डबराल

हमारे समाज का जो मौजूदा नेतृत्व है, उसको कार्पोरेट घरानों ने सफलता दिलायी और वो कार्पोरेट का ही हित-साधन कर रहा है। चाहे मीडिया हो, चाहे सरकार की नीतियाँ हों, सब कार्पोरेट के पक्षधर हैं। उसके लिए जनता का सवाल गौण है। वो अभी तक कोई सामाजिक समस्या नही सुलझा पाया है। उसके पास इस समाज को लेकर कोई विज़न, कोई बड़ी दृष्टि नही है। देश की समस्याएँ क्या है, इसकी कोई परवाह नहीं है। एक कार्पोरेट एजेण्डा है जो कि इस समय दुनिया भर में चल रहा है तो हमारे यहाँ भी उसको जारी रखा जा रहा है।

बलराम गुमास्ता : सर, विषय को बदल लेते है। अगर आप कोई तर्कपूर्ण प्रश्न करते है या आपने कोई सवाल उठाया है तो आपको देशद्रोही मान लिया जाता है- ये हालात है। तो इस समय फिर कविता की भूमिका और मामला बड़ा जटिल हो जाता है, क्योंकि कविता भी मानवीय प्रसंगों को, मानवीय सवालों को उठाती है। इस कठिन समय का सामना आप लोगों ने अभी किया। बीच में जो एक प्रोटेस्ट हुई जिसमें तमाम कवियों, लेखकों और संस्कृति कर्मियों ने उसमें भाग लिया, दिल्ली में आपकी भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण रही। इन सबका अनुभव कैसा रहा आपको?

- बलराम जी, ये सवाल मुझे बड़ा विचलित और उद्विग्न करता है। हम लोगों ने जो विरोध किया, जो प्रतिरोध किया, उसकी चर्चा हुई, यह अच्छी बात है। वो सांकेतिक था। ये ही हम लोग कर सकते थे। लेकिन मुझे जो बात बहुत डिस्टर्ब करती है और जिसने बहुत परेशान किया पिछले काफी समय से कि ये कैसा समय है, कि हमारे देश के एक नागरिक को यह कहना पड़ता है कि वह देशद्रोही नहीं है। मतलब ये साबित करना पड़ता है। ये देशद्रोही होना क्या होता है? यानी हम नागरिक भक्ति का सबूत किस तरह से दें? इस तरह से दें कि जैसा दूसरे लोग चाहते हैं, कि तुम नारा लगाओ तब तुम देशभक्त बनोगे। मुझे आज तक ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिला जो देशभक्त न हो। अपने देश से प्रेम करने का क्या अर्थ है- अपने लोगों से प्रेम करना। वो कोई अपने नक्शे से प्रेम थोड़े ही है। देश कोई शेर पर सवार कोई दुर्गा है?

दूसरी बात यह कि मेरी देशभक्ति ये है कि अगर मेरे देश में कोई गड़बड़ हो रही है, हमारे लोग कुछ गड़बड़ कर रहे हैं, अच्छा काम नहीं कर रहे हैं तो मैं उसकी आलोचना करूँगा। हमारे देश में अगर खराब व्यवस्था है, एक खराब सरकार है, अगर एक साम्प्रदायिक, मनुष्य विरोधी सत्ता है तो उस सत्ता का विरोध करना मेरी देशभक्ति है। मेरी देशभक्ति का इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

बलराम गुमास्ता : बहुत अच्छा, सर। वर्तमान सरकार आँख मूँदकर जिस रास्ते पर चल रही है, उस विश्व बाज़ार-ग्लोबलाइजेशन का एक पाया तो खिसक गया। यूरोपियन यूनियन से अभी यू.के. अलग हुआ है, वो जो चमत्कारिक खेल हमें दिखाया जा रहा था- ये सारा संसार और ये सब, विश्व बाज़ार की तरफ। बहुत बड़ा झटका है उसके लिए। जिस तरह की विखण्डन की प्रक्रिया हुई है, हमारे देश का जो नेतृत्व है, बिना ये जाने कि हमारे अपने रिर्सोसेज क्या है, हमारे संसाधन क्या है और वो उस बाज़ार की तरफ आँख मूँदकर पूरे के पूरे देश को और पूरी व्यवस्था को धकेल रहा है जिसमें तमाम किस्म के विस्थापन हो रहे है। मनुष्य अपनी आत्मा से विस्थापित हो रहा है, गाँव विस्थापित हो रहे है, किसान अपनी खेती से विस्थापित हो रहा है, लघु उद्योग खत्म हो रहे है। कुम्हार जो घड़ा बनाता था, उसका व्यवसाय खो रहा है। एक अजीब उथल-पुथल है। अब ये कहाँ हमारे देश को ले जायेगी, जबकि जो प्रादर्श रखा गया था, ये किसी दिन खुशहाली लायेगा, वो खत्म होता जा रहा है।

- देखिए, हमारे समाज का जो मौजूदा नेतृत्व है, उसको कार्पोरेट घरानों ने सफलता दिलायी और वो कार्पोरेट का ही हित-साधन कर रहा है। वो चाहे मीडिया हो, चाहे सरकार की नीतियाँ हों, वो सब कार्पोरेट के पक्षधर हैं। उसके लिए जनता का सवाल गौण है बहुत ज्यादा। वो अभी तक कोई सामाजिक समस्या नहीं सुलझा पाया है। उसके पास इस समाज को लेकर कोई विजन, कोई बड़ी दृष्टि नहीं है। देश की समस्याएँ क्या हैं, इसकी कोई परवाह नहीं है। एक कार्पोरेट एजेण्डा है कि इस समय दुनिया भर में चल रहा है तो हमारे यहाँ भी उसको जारी रखा जा रहा है। इसके नतीजे में नुकसान जो रहा है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है।

बलराम गुमास्ता : कृषि जिस पर हमारा पूरा स्ट्रक्चर आधारित था, जो गाँव की थी, हर किसान अपने खाने का बना रहा है, अपनी चीजें पैदा कर रहा है। जो अपना सेंग्शन अमेरिका वगैरह लगाता था, अटली जी के समय पर जब हुआ, तब भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाये। क्योंकि हमारी कृषि आधारित इकॉनॉमी थी, उसने हमें बड़ी मदद की।

- आप देखिए, इतने बड़े पैमाने पर किसान आत्महत्या कर चुके हैं इस देश में, इसकी ओर कोई ध्यान नहीं है। क्योंकि जो कार्पोरेट घराने हैं उनको इस बात से कोई मतलब नहीं है कि किसान की खेती का क्या होता है।

अरुणेश शुक्ल : भाई साहब, एक चीज़ और, चूँकि आपने विस्थापन देखा है- पहाड़ों पर विस्थापन का जो स्वरूप है। मुझे याद आता है कि नवीन जोशी का एक उपन्यास था- 'दावानल'। किस प्रकार से विकास का सो-कॉल्ड ख़ामियाज़ा भुगत रहे है लोग। कहीं एक ऐसा समय आ गया है जिसमें विस्थापन को नेस्टीमाइज किया जा रहा है और वो आपके जीवन का एक अनिवार्य हिस्सा बताकर प्रस्तुत किया जा रहा है कि अगर आप विस्थापित नहीं हैं तो आपकी तरक्की नहीं हो पायेगी। आपको किसी न किसी रूप में विस्थापित करने की कोशिश जारी है।

- देखिए, इस मामले में चाहे कांग्रेस सरकारें हों या चाहे मौजूदा सरकारें हों, सबका यह कहना है कि अगर आपको विकास करना है तो विस्थापन तो होगा और ये तर्क दिया जाता है कि लोगों की जीवन शैली को ज़रूर बदलना पड़ेगा, आदिवासियों को अपनी जीवन-शैली बदलनी होगी। इतना बड़ा एक दुष्चक्र है विस्थापन इस देश में, मुझे लगता है कि आज इतनी बड़ी सच्चाई है विस्थापन!

मैं उत्तराखण्ड से हूँ और उत्तराखण्ड के जो तेरह हज़ार कुछ गाँव हैं, उसमें से लगभग ढाई हज़ार गाँव इस समय वीरान हैं, निर्जन हैं। वहाँ एक भी आदमी नहीं रहता है। पिछले दिनों एक समाचार पढ़ने को मिला था, पोड़ी गढ़वाल में एक वोन्डूल नाम का गाँव है, जहाँ एक महिला बची है, विमलादेवी, जो साठ साल की है। उसका बेटा किसी आईटी कम्पनी में काम करता है। छोटी-मोटी कम्पनी में काम करता है और एक कमरे में रहता है। उसकी एक सहेली एक साल पहले गाँव छोड़कर चली गयी, पौड़ी शहर में रहने लग गयी। अब इतने गाँव वीरान हो गये, लगभग चार हज़ार गाँवों में से 20 प्रतिशत विस्थापन हुआ है और बाकी जगहों में भी लोग खेती करना छोड़ चुके हैं। ये दो तरह के विस्थापन हैं। एक तो ये विस्थापन है और दूसरा एक जो आन्तरिक है, जो कि अपनी जगह पर ही आप विस्थापित हो जाते हैं, वह यह कि लोगों ने खेती करना बंद कर दिया और खेतों में जंगल उग आये हैं और वो लोग, वो सब किसान जो छोटे-मोटे किसान थे, वो सड़क बनाने की मज़दूरी करने लगे हैं, दिहाड़ी मज़दूरी करने लग गये हैं, उससे स्टण्ट मनी मिल जाती है, जिससे शाम के खाने का उनका खर्च चल जाता है। उनका आधार पूरा खत्म हो गया है। इसी तरह से टीहरी बाँध हमारे यहाँ बना। उससे दो-तीन लाख लोग विस्थापित हुए, जिनको देहरादून और हरिद्वार के बीच में बसाया गया।

जो एक बार विस्थापित हो जाता है, उसकी पुनर्स्थापना नही हो सकती। उसको भले ही उपजाऊ ज़मीन दे दीजिये, उसकी भले ही सुख-सुविधाएँ बढ़ सकती है, लेकिन उसने जो खोया है- अपना पानी, अपने पेड़, अपना खान-पान, अपनी भाषा, अपनी स्मृतियाँ, अपनी यादें- पहाड़ के जो लोग शहरों में आये है विस्थापित होकर, अगली तीन जनरेशन के बाद वो अपनी भाषा भूल चुके होंगे, उसकी बारीकियाँ तो भूल ही रहे है, पूरी जीवन-शैली विलुप्त हो चुकी होगी।

बलराम गुमास्ता : नया टेहरी भी शायद बन गया है।

- हाँ, नया टेहरी। लेकिन गाँव जो उजड़ा, दो लाख लोग वहाँ से उजड़े, उन लोगों को मैदानी इलाकों में बसाया गया। जो एक बार विस्थापित हो जाता है, उसकी पुनर्स्थापना नहीं हो सकती। उसको भले ही उपजाऊ ज़मीन दे दीजिये, उसकी भले ही सुख-सुविधाएँ बढ़ सकती हैं, लेकिन उसने जो खोया है- अपना पानी, अपने पेड़, अपना खान-पान, अपनी भाषा, अपनी स्मृतियाँ, अपनी यादें- पहाड़ के जो लोग शहरों में आये हैं विस्थापित होकर, उनकी अगली तीन जनरेशन के बाद वो अपनी भाषा भूल चुके होंगे, उसकी बारीकियाँ तो भूल ही रहे हैं, वो पूरी जीवन-शैली विलुप्त हो चुकी होगी। तो जो आप खो चुके होते हैं वो उनको नहीं दिया जा सकता है- चाहे आप उनको कितना ही प्रतिष्ठित और स्थापित कर दें। ये एक ऐसी प्रक्रिया है जो पूरे हिन्दुस्तान में चल रही है।

अरुणेश शुक्ल : आपने तो पहाड़ से भी देखा है, जैसे कुछ प्रतिरोध के मूवमेन्ट्स हुए, जैसे 'चिपको' रहा या इस तरह के छोटे-छोटे मूवमेन्ट्स हुए। लेकिन उनकी जो हकीकत बनी, जो ख़ासतौर से न्यू सोशल मूवमेन्ट की एक ट्रेजिडी बनती जा रही है कि एक तो कोई ठोस विचाराधारात्मक आधार आपके पास उस मूवमेन्ट का नहीं होता और बाद में जो हम लोग देखते है कि वो लोग जाकर सर्वोदयी संत की तरह जिनेवा में या अन्य जगह व्याख्यान देने लगेंगे। वो जो लोकल उससे शुरू हुआ था, मान लिया कि आपकी मूलभूत चीज़ों को कि आपकी इकॉनॉमी कैसे चलेगी, पेड़ कट जायेंगे महिलाएँ कैसे रहेंगी। जो एक मूवमेन्ट लोकल इकॉनॉमी के लिए शुरू हुआ था वो कहीं न कहीं 'पर्यावरण बचाओ' और इस तरह के बड़े रूप में शिफ्ट करके लोकल चीज़ों से हटा दिया जाता है।

- देखिए, ये सब हुआ है और ये सब होता रहेगा। क्योंकि हर चीज़ को भुनाने वाली ताकतें तो रहती हैं इस समाज में और हर चीज़ को भुनाना चाहती हैं। लेकिन असल जो संघर्ष है वो शायद पहाड़ की महिलाओं ने किया है। 'चिपको' आन्दोलन की शुरूआत ही एक महिला गौरादेवी ने की थी। इसी तरह 'शराबबंदी' आन्दोलन है, उसमें महिलाएँ बहुत आगे-आगे रही हैं और ऐसे बहुत से लोग हैं जो बाकायदा पृष्ठभूमि में रहकर अपना संघर्ष करते रहे हैं। जैसे हमारे यहाँ एक विजय जरधारी हुए हैं। उन्होंने हेवल घाटी में 'बीज बचाओ' आन्दोलन किया, जो स्थानीय पारम्परिक बीजों को बचाने का बहुत बड़ा आन्दोलन था।

ऐसे आन्दोलन भले ही बड़े अभियान का रूप न ले पायें लेकिन उनकी अपनी बहुत बड़ी जगह है और जो हमारी माइक्रो हिस्ट्री है, जो हमारा लघु इतिहास है, उसका एक बड़ा अंग हैं, उसका बहुत बड़ा हिस्सा हैं वो। उसको हम लोग कभी और मैं यहाँ पर यह कहना चाहता हूँ कि ये जो विस्थापन है, आदिवासी इलाकों में

'मदर्स डे' पर आपको दिखाई देता है कि पाँच कविताएँ 'माँ' पर छपी हुई है या 'फादर्स डे' आता है तो दो-तीन कविताएँ 'पिता' पर छपी हुई होती है। इसी तरह 'चिल्ड्रन्स डे' आता है तो उस पर एक-दो कविताएँ 'बच्चों' पर मिल जाती है। ये आनुष्ठानिक मामला है- एकदम रिचुअलिस्टिक है। सचमुच की कोई चिन्ता हमारे मीडिया को नही है। चाहे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो या प्रिंट मीडिया हो। साहित्यिक पत्रकारिता लगभग समाप्त हो गयी है।

क्या हो रहा है? इतना भयंकर विस्थापन इस समय हो रहा है, सब कार्पोरेट घराने हैं, जहाँ नियामगिरी के संघर्ष को हम सब लोग जानते हैं। नियामगिरी के आदिवासियों ने किस तरह से वेदान्ता के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी थी। इस तरह की लड़ाइयाँ बहुत जगह हो रही हैं। भले ही कोका कोला प्लाण्ट को बंद करवाने की लड़ाई हो, परमाणु रिएक्टर को बंद करवाने की लड़ाई हो। इस तरह के हाशिये के आन्दोलन हैं वो इस देश में बहुत चल रहे हैं। इसका अर्थ यही है कि इन सब लोगों विस्थापन जो हो रहा है, ये विस्थापन से ही उपजे हुए संघर्ष हैं। क्या आदिवासियों को आप अपने ही इलाके में दिहाड़ी मजदूर बना देंगे, तो आप असल में क्या कर रहे होंगे? आप न तो उनका जीवन बदलेंगे, आप उनकी जीवन शैली को छीन रहे हैं, यानी आप उसे नष्ट कर रहे हैं। इसी प्रक्रिया में हमारे यहाँ भाषाएँ नष्ट हुई हैं, जीवन-शैलियाँ नष्ट हुई हैं, कुछ आदिवासी जातियाँ हैं, वो नष्ट हुई हैं और ये तो है।

विस्थापन वगैरह को और पीछे ले जायें, तो सन् 1913 में गढ़वाल का वो पहला आदमी, उसका नाम है गबरसिंह रावत। गबरसिंह रावत पुलिस फौज भर्ती हुआ था और वह अपने गाँव से शायद तीन दिन का सफ़र पैदल तय करके कोटद्वार पहुँचा, जो कि शायद उत्तराखण्ड में पहली छावनी थी अंग्रेजों की, जहाँ कि फौजी होते थे। वह पन्द्रह साल की उम्र में था और जब उन्नीस साल का हुआ तो वह फ्रांस के एक मोर्चे पर मारा गया प्रथम विश्वयुद्ध में। मुझे लगता है कि शायद वह पहला विस्थापित था वहाँ से, 1913 में और सौ साल हो चुके हैं विस्थापन के। उसके बाद से लगातार विस्थापन बढ़ता गया है।

विनय उपाध्याय : मंगलेश जी, ये जो परिदृश्य इस वक्त हमारे सामने हैं और ये तमाम चिन्ताएँ और बहुत सारे आसन्न संकट हमारे सामने इस वक्त दिखाई दे रहे है। ये तमाम चिन्ताओं के बरक्स साहित्य सा साहित्यकार की जो भूमिका है, उसका जो रोल है, वो क्या होना चाहिए?

- देखिए विनय जी, साहित्यकार का, अगर अभी विस्थापन की बात कर रहे हैं तो पहला काम तो शायद उसका यही होगा कि वो इस विस्थापन की स्मृति को बचाये। ये विस्थापन कहाँ दर्ज होगा? उन लोगों के इतिहास में तो नहीं आयेगा, जो लोग उस विस्थापन के हिस्से हैं, जो लोग विस्थापित कर रहे हैं उनका तो ये रोज़गार है और जो लोग विस्थापित हुए हैं वो लोग उसको भुला देंगे। जैसे हमारे पार्टीशन को भुला दिया गया। पार्टीशन जिसमें कहा जाता है कि दो लाख से बीस लाख तक लोग मारे गये और जो मानव सभ्यता का सबसे बड़ा विस्थापन था। उससे बड़ा कोई विस्थापन नहीं हुआ है। किसी युद्ध में नहीं हुआ है।

अरुणेश शुक्ल : जो सो-कॉल्ड लीगल था...

- ऐलानिया विस्थापन था। कहते हैं कि जिसमें 1 करोड़ 60 लाख लोग प्रभावित हुए थे। इतने लोग उससे विस्थापित हुए। मतलब इधर से उधर हुए। इतना बड़ा विस्थापन जो इस समाज ने भुगता हो, उसकी स्मृति कहाँ साहित्य में रहेगी? मतलब वो भुला दिया गया। एक बड़ी त्रासदी क्या हुई? इस विस्थापन को भुला दिया गया। ये सब पाकिस्तान के लेखकों की स्मृति में दर्ज हैं और कुछ हिन्दी के इक्का-दुक्का उपन्यासों में और कहानियों में है। कोई व्यवस्थित तो नहीं है। अंग्रेजी में काफी कुछ लिखा गया। मुझे लगता है कि साहित्य का शायद जो पहला काम है, वह यह है कि इसकी स्मृति को बचाये।

विनय उपाध्याय : इसी विस्थापन की बात करें तो मध्यप्रदेश के बाशिन्दों ने बड़ा विस्थापन भुगता था हरसूद का। हरसूद और उसके आसपास के तमाम गाँव डूब के शिकार हुए और आज भी यदि पत्रकारिता अपनी भूमिका नही निभाती तो शायद वो सारी चीज़ें ठीक से उजागर नहीं हो पाती! लेकिन किसी भी साहित्यकार ने- हरसूद के लिए मुकम्मल कलम नहीं चलाई। कोई काम नही किया।

- जब हरसूद में ये घटना हुई थी, आप देखिए कि हरसूद बहुत पानी वाली जगह थी। उससे जो नया हरसूद अब बनाया गया है वहाँ कोई पानी नहीं है। उन्हीं दिनों एक किताब निकली थी 'हरसूद' नाम से। लेकिन ये बात आपने सही कही कि साहित्य में उसकी स्मृति अगर नहीं है तो ये बड़ी चिन्ता की बात है। मेरा कहना यह है कि दुनिया का जो बड़ा साहित्य है वो लोगों के विस्थापित होने को, जो उनका 'सेन्स ऑफ लॉस' है, जो हानि का बोध है कि क्या हानि हुई है, उनके अभाव को दर्ज करता है और इसको लेकर के बहुत सारी चीज़ें हैं।

बलराम गुमास्ता : शहर से शहर में विस्थापन है। जैसे स्मार्ट सिटी है, तो वहाँ से लोगों को विस्थापित किया जा रहा है।

- ऋत्विक घटक एक महान फिल्मकार हैं। ऋत्विक घटक की फिल्में हैं और कम से कम तीन जो महान फिल्में हैं- 'मेघे ढाका तारा', 'भविष सुपर्ण रेखा' और 'कोमल गान्धार'। ये तीनों फिल्में बंगाल के पार्टीशन को डील करती हैं। बंगाल के विभाजन के बाद, बंगाल से

कलकत्ता आने वाले लोग जो अब रिफ्यूजी कैम्पों में रह रहे हैं, वहाँ क्या दर्दनाक कहानियाँ उनकी हैं, कैसा जीवन वो भुगतते हैं, इस सबका दिल दहलाने वाला वर्णन उन फिल्मों में मिलता है। बल्कि मैं यह भी बता दूँ कि ऋत्विक घटक कभी ये स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए कि ये विभाजन हो चुका है। वह एक राजनैतिक विभाजन था, कोई सांस्कृतिक विभाजन नहीं था।

विनय उपाध्याय : मंगलेश जी, आपकी कुछ कविताएँ भी हम सुनना चाहेंगे, लेकिन उससे पहले एक सवाल मेरा बनता है आपसे। आप साहित्यकार के रूप में तो समादृत है हमारे हिन्दी समाज में, दूसरा आपका फ़लसफ़ा काम करने का अखबारों और पत्रिकाओं का भी है। यानी साहित्यिक सांस्कृतिक पत्रकारिता भी आपने एक बहुत लम्बे समय तक साधी है। इस वक्त परिदृश्य कैसा नज़र आता है?

- देखिए, जहाँ तक अखबारों का सवाल है, उसमें साहित्यिक पत्रकारिता तो रह नहीं गयी है। अखबारों में वो सब तो लगभग ख़त्म ही हो गयी है। बहुत कम, इक्का-दुक्का, जो कुछ समीक्षाएँ देते हैं अखबार, उसमें भी पब्लिक रिलेशनिंग ज़्यादा होती है। पब्लिक रिलेशनिंग जॉब ज्यादा है। उसमें तारीफें ही की जाती हैं। जबकि आलोचना का काम ये है और अच्छी साहित्यिक पत्रकारिता का काम ये है कि वो साहित्य की किसी कृति के बारे में यह बताये कि उसको हम कहाँ प्लेस कर रहे हैं? हमारी जो अपनी परम्परा है, उसमें इसकी जगह कहाँ पर बनती है, ये वो नहीं बताती हैं, तारीफ़ों से भरी हुई होती है और अगर समीक्षक आपसे नाराज़ हुआ तो निन्दा से भरी हुई होती है। लेकिन इस समय प्रतिमानों का संकट है। अखबारों में उसकी जगह लगातार सिकुड़ती जा रही है। उसकी जगह कुछ आनुष्ठानिक जगह हो गयी है, रिचुअलिस्टिक जगह हो गयी है। मसलन 'मदर्स डे' पर आपको दिखाई देता है कि पाँच कविताएँ 'माँ' पर छपी हुई हैं या 'फादर्स डे' आता है तो दो-तीन कविताएँ 'पिता' पर छपी हुई होती हैं। इसी तरह 'चिल्ड्रन्स डे' आता है तो उस पर एक-दो कविताएँ 'बच्चों' पर मिल जाती हैं। ये आनुष्ठानिक मामला है- एकदम रिचुअलिस्टिक है। सचमुच की कोई चिन्ता हमारे मीडिया को नहीं है। चाहे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो या प्रिंट मीडिया हो। साहित्यिक पत्रकारिता लगभग समाप्त हो गयी है। जब मैंने शुरू किया था, जब मैंने अखबारों में पत्रकारिता शुरू की, उन दिनों हम लोग कम से कम यही मानते थे कि लोगों को साहित्य की उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि खेलकूद की ज़रूरत है। उसको हम लोग बहुत कवरेज देते थे। अब शायद सोशल मीडिया पर ब्लॉग या इन पर साहित्यिक गतिविधि बढ़ रही है और मुझे लगता है कि यह एक अच्छी बात है। इसके माध्यम से कुछ अच्छी चीज़ें सामने आएँ, ये एक उम्मीद बनती है।

इस समय पत्रिकाएँ इसलिए बहुत ज़्यादा हैं, क्योंकि विज्ञापन मिल जाते हैं। लेकिन उनमें कोई महत्वपूर्ण पर्सपेक्टिव दिखाई नहीं दे रहा है। कोई नयी रचना भी उनके ज़रिये सामने नहीं आ रही है, वजह, कि उनमें सम्पादकीय विवेक नज़र नहीं आता। वो अक्सर एक आलू के बोरे की तरह होती हैं जिसमें छोटे-बड़े सारे आलू भर दिये गये हैं। आज तो छपना बहुत आसान हो गया। उनमें कोई सम्पादन नहीं मिलता है। मुझे लगता है कि पत्रिकाओं का यह काम है कि वो अच्छे साहित्य को रेखांकित करें।

विनय उपाध्याय : और पत्रिकाओं को लेकर...?

- पत्रिकाएँ इस समय हिन्दी में बहुत ज़्यादा हैं। इस समय हिन्दी में इतनी ज़्यादा पत्रिकाएँ हैं जितनी शायद कभी भी नहीं रहीं। इतनी पत्रिकाएँ उस समय भी नहीं रहीं, जब हिन्दी में लघु पत्रिका आन्दोलन चल रहा था- 71, 72, 73 के आसपास। पत्रिकाएँ इसलिए बहुत ज़्यादा हैं, क्योंकि विज्ञापन मिल जाते हैं। लेकिन उनमें कोई ऐसा पर्सपेक्टिव नहीं दे पा रही हैं ये सारी पत्रिकाएँ साहित्य को और न उनके ज़रिये कोई नयी रचना सामने आ रही है, क्योंकि उनमें सम्पादकीय विवेक नज़र नहीं आता। वो अक्सर एक आलू के बोरे की तरह होती हैं जिसमें छोटे-बड़े सारे आलू भर दिये गये हैं।

विनय उपाध्याय : उस सम्पादकीय विवेक की चर्चा कीजिये, जिसने कभी साधा था ऐसी पत्रिकाओं को?

- बहुत-सी पत्रिकाएँ ऐसी रही हैं, जैसे 'कल्पना' नाम की पत्रिका थी, 'आलोचना' थी, 'पहल' थी जिसमें छपना शायद एक बड़े गर्व की बात मानी जाती थी। उस समय यह माना जाता था कि 'कल्पना' में आपकी कविता छप गयी है तो आप कवि हो गये हैं। उस समय छपना मुश्किल काम था। आज तो छपना बहुत आसान हो गया। उनमें कोई सम्पादन नहीं मिलता है। मुझे लगता है कि पत्रिकाओं का यह काम है कि वो अच्छे साहित्य को रेखांकित करें।

विनय उपाध्याय : मंगलेश जी, यहाँ पर मै थोड़ा-सा विभाजन करके बात करना चाहूँगा कि वो पत्रिकाएँ जो दिल्ली से सम्पादित होती है उनका चरित्र और जो कस्बों एवं छोटे शहरों से भी निकल रही है- क्या आपको लगता है कि कोई फ़र्क है उनके चरित्र में?

- देखिए, फ़र्क ज़रूर होगा। क्योंकि स्थानीय प्रतिभाओं को उसमें ज़्यादा जगह मिलती होगी, लेकिन उनमें सम्पादन की कोई बड़ी दृष्टि मुझे नज़र नहीं आती है और लगता है कि ये सब असम्पादित हैं। मतलब ऐसा अब होता ही नहीं है कि मैं कहीं कविताएँ भेजूँ तो सम्पादक यह कहे कि आपकी कविताएँ अच्छी नहीं हैं, और कविताएँ भेजिये। आप जो भी भेजते हैं वो सब छप जाता है। ये सम्पादकीय विवेक नाम की चीज़ मुझे नज़र नहीं आती।

विनय उपाध्याय : कुछ पत्रिकाओं ने बीच में जो वैचारिक उद्वेलन पैदा किया था, मसलन 'हंस' की बात करें। राजेन्द्र यादव के सम्पादकीय बहुत बोल्ड हुआ करते थे। यदि हम 'ज्ञानोदय' के दो साल पहले के अंक का ज़िक्र करें, जिसने एक अलग किस्म की बहस खड़ी की थी। क्या आपको लगता है कि ये जो सारी बहसें थी, बहुत निरर्थक रहीं या तात्कालिक थी, इनका बहुत दूर तक कोई असर नही दिखाई दिया?

- देखिए, निरर्थक बिल्कुल भी नहीं थीं, इसलिए कि वो अपने समय की, हमारा जो साहित्यिक समय है या सांस्कृतिक समय है उसी की उपज होती हैं। मसलन दलित। 'हंस' में दलित विमर्श काफी सामने आया और उसमें दलित लेखक बहुत छपे। मुझे लगता है कि दलित लेखन और आदिवासी लेखन और महिला लेखन आज के समय की बहुत बड़ी सच्चाइयाँ हैं और ये एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन हैं और आज जो अच्छी रचना है वो दरअसल वहीं से आ रही है, जिनके पास ठोस अनुभव हैं, अनुभव के बीचोंबीच जो रह रहे हैं। मसलन बहुत से आदिवासी जो कवि हैं, इस समय बहुत अच्छा लिख रहे हैं- और उनसे भरोसा बनता है। अभी तक हिन्दी की जो पूरी सवर्ण शक्ति संरचना है, उसमें एक बहुत बड़ा रास्ता उन्होंने बनाया है। और, मैं इसकी ओर बहुत उम्मीद से देखता हूँ, जो मुझे लगता है कि मराठी में बहुत पहले से है। मराठी में तो दलित साहित्य ने पूरे सवर्ण साहित्य को ही बदलकर रख दिया है। मसलन नामदेव ढसाल और दया पवार- इन दो लोगों ने कविता और गद्य में, ये लोग बड़े क्रान्तिकारी हैं।

विनय उपाध्याय : मंगलेश जी, आपने सोशल मीडिया की बात कही थी अभी, ये जो लगातार किताबें छप रही है, तमाम दूसरे विषयों पर भी काफी कुछ इस समय दिखाई दे रहा है। लेकिन पाठकों तक जो रीच होना चाहिए हमारे साहित्यकारों की और विशेष रूप से मै यंगर जनरेशन को कोट करके कहूँ, तो ये छपे हुए साहित्य को उस तक पहुँचने के लिए क्या विकल्प आप सुझाते है? लगता है कि किताबों की तरफ पाठकों का रुझान कम है, वो दूसरी तरह से पहुँचना चाहते है, दूसरे अनुशासनों से गुज़र कर पहुँचना चाहते है, इत्यादि। आपको क्या लगता है?

- दरअसल हिन्दी में कोई पाठक समाज नहीं है ठीक-ठीक, इतनी सारी किताबों के बावजूद और पचास करोड़ की आबादी के बारे में कहा जाता है कि वह हिन्दी पढ़ती है, बोलती है। हिन्दी एक बहुत बड़ी भाषा बन चुकी है, लेकिन उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक जो समृद्धि है वो बहुत कम है। मुझे लगता है कि दूसरी भाषाओं के लेखक अपने समाज से ज़्यादा जुड़ा हुआ महसूस करते हैं अपने आपको, इसलिए कि वो लोगों को बिलॉंग करते हैं। जिसे 'सेंस ऑफ बिलॉंगिंग' कहते हैं, यहाँ हिन्दी में बहुत कम हैं।

मेरी एक किताब छपी है तो मुझे नहीं मालूम कि उसका पाठक कौन है। हालाँकि ये बात हर भाषा में है। ये तय करना मुश्किल है कि पाठक कौन हैं, लेकिन दूसरी भाषाओं में पाठक की एक अदृश्य उपस्थिति बनी रहती है, लेखक को ये एहसास बना रहता है कि दूसरा है जो मुझे पढ़ेगा या पढ़ रहा है- वो कौन है, उसको भले ही हम न जानते हों। हिन्दी में इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि आपको कोई पढ़ेगा। इस तरह से। समकालीनता का अर्थ यही है कि आप उस काल में, जहाँ कोई दूसरा भी आपको देख रहा है। हिन्दी में इस बात का कोई भरोसा नहीं है। एक बात तो ये है।

दूसरी बात यह कि इसकी बहुत-सी वजहें हमारे हिन्दी समाज की निरक्षरता और निर्धनता में छिपी हुई हैं और दूसरी बड़ी वजह यह है कि किताबें बहुत महँगी हैं। प्रकाशकों को ज़रा भी इस बात से सरोकार नहीं है कि पाठकों तक ये किताब पहुँचे। मैं बहुत पहले से, पिछले बीस साल से, जो परिचित प्रकाशक हैं- उनसे यह कहता आ रहा था कि आप पेपर-बैक एडीशन लाइये। अब जाकर लोगों ने पेपर-बैक एडीशन लाने शुरू किये हैं। अब उनको ये लगा है, थोड़ी एक्टिविटी बढ़ी है। पुस्तक मेले बहुत होते हैं, सरकारी खरीद बहुत कम हो गयी है। तो जब तक किताबें जनसुलभ नहीं होंगी, तब तक किताबें सस्ती नहीं होंगी! अगर मेरी किताब का दाम तीन सौ रुपये है तो मैं खुद अपनी किताब नहीं खरीद पाऊँगा। मुझे विदेशी लेखकों से इस बात को करने का कुछ अनुभव है, वो लोग आश्चर्य करते हैं। उन लोगों को यकीन नहीं होता है कि मेरी किताब की पाँच सौ प्रतियाँ चार साल में बिकती हैं। उनको लगता है कि आपका समाज कैसा है, वहाँ लोग पढ़ते नहीं हैं क्या?

विनय उपाध्याय : हमारे पुस्तकालय सन्नाटे फाँक रहे है जहाँ आसानी से चीजें उपलब्ध है। मुफ्त में भी अगर किताब भेंट कर दी जाती है तो उसको भी पढ़ने का संस्कार लोगों में नही है। क्या बेचैनी है इस वक्त में, जो उसको एकाग्र नही होने देना चाह रही है?

विनय उपाध्याय : क्या विषय-वस्तु को लेकर भी साहित्यकारों को, रचनाकारों को जो चीजें गम्भीरता से सोचनी चाहिए थीं? 'जलतरंग' संतोष चौबे जी का जो उपन्यास आया है, भारतीय ज्ञानपीठ ने छापा है। वो उपन्यास दरअसल हमारी पूरी भारतीय शास्त्रीय संगीत की जीवन के साथ यात्रा को जोड़कर अपनी बात कहने की एक पहल करता है। क्या इस तरह के साहित्य को भी रचे जाने की, इस तरह के विषयों को उठाने की भी दरकार है, जो सुरुचि के साथ समाज को सम्बोधित हो? आपका क्या कहना है।

- मान लीजिए, शास्त्रीय संगीत का ये उपन्यास जितना भी अच्छा हो, इसे एक आम पाठक जो कि गुलशन नन्दा को पढ़ता है, क्या वह भी उसी चाव से उसको पढ़ेगा? नहीं। इसमें भी कुछ संदेह है। इसमें मुझे संदेह है कि ये इतना लोकप्रिय होगा या नहीं जितना कि हमारे यहाँ दूसरा लोकप्रिय साहित्य होता है। मुझे लगता यह है, जैसे मीर का एक शेर है कि- 'गो मेरे शेर हैं ख़बासपसन्द पर मुझे गुफ्तगूँ अवाम से है।' यानी मेरी कविता को ख़ास लोग पसन्द करते हैं, लेकिन आम जनता से मेरी गुफ्तगू है। जिससे आपकी गुफ्तगू है, जिसके लिए आप लिख रहे हैं- वो तो आपको पढ़ नहीं पा रहा है या उसके पास पढ़ने का मौका नहीं है या उस तक पहुँचा नहीं है। उस तक अच्छा संगीत नहीं पहुँचा है, अच्छा साहित्य नहीं पहुँचा है, अच्छी कला नहीं पहुँची है, अच्छा नाटक नहीं पहुँचा है या उसके या उसके बीच बहुत सारी दूरियाँ बनाकर रखी गयी हैं।

अगर हम कल्पना करें कि ये उपन्यास मराठी में होता, तो मुझे नहीं लगता कि मराठी में इसके पाठकों की कमी होती। मराठी में उसकी एक परम्परा है या बाँग्ला में है। बाँग्ला में लोग अपने लेखकों को बहुत प्यार करते हैं। मलयालम में करते हैं। मलयालम में शिवशंकर पिल्लै और मोहम्मद बशीर- ये दो लोगों को वहाँ कौन नहीं जानता। कन्नड़ में शिवराम कारन्त के उपन्यास 'सोमनदुडी' पर जब फिल्म बन रही थी और ब.व. कारन्त बना रहे थे। शिवराम कारन्त ने ब.व. कारन्त से कहा कि- 'देखो उपन्यास में चेंज मत करना तुम, नहीं तो तुमको वहाँ के लोग बहुत भला-बुरा कहेंगे।' आप आश्चर्य करेंगे कि जब उसकी शूटिंग चल रही थी उस इलाके में तो वो लोग देखने आते थे कि ये शूटिंग कैसी हो रही है। मैंने जो कहा न, एक सेंस ऑफ बिलाँगिंगंग- ये बिलाँगिंगंगनैस है। ये हमारे यहाँ न लेखक के भीतर है, न पाठक के भीतर है- हिन्दी समाज में। ये वो जगह है जहाँ लेखक बहुत अकेला हो चुका है। इसीलिए हम लोग आलोचकों की शरण में जाते हैं, इसीलिए हम मोहताज होते हैं, इसीलिए लोकार्पण वगैरह करवाते हैं, ताकि इससे एक वातावरण बने। ये एक बहुत बड़ी ट्रेजिडी है। मुझे नहीं मालूम कि ये कैसे दूर होगी। हाँ, इसका हल आप ये सुझा रहे हो, जो कि सुझाया जाता है कई बार कि साहित्य को थोड़ा डायल्यूट होना चाहिए। साहित्य को डायल्यूट क्यों होना चाहिए? तो साहित्य नहीं रह जायेगा। मुझे लगता है कि आप कविता को तभी पसन्द कर सकते हैं, जब आपके भीतर थोड़ी-बहुत कविता हो। आपको शराब तभी अच्छी लगेगी, जब आपके भीतर थोड़ी-बहुत शराब हो। जैसे ये कहा जाता है न, मुझे लगता है कि शायद ये बहुत ज़रूरी है।

दूसरा, आप देखिए कि दुनिया के जितने भी बड़े जनवादी कमिटेड लेखक माने जाते हैं, वो चाहे जुजो सरामागो हों। सरामागो ज़िन्दगी भर पुर्तगाली कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य रहे और कभी उन्होंने सदस्यता नहीं छोड़ी। इसी तरह से गोब्रियल गार्शिया मारक्वेज आजीवन वामपंथी रहे। उनके उपन्यास पढ़िये। वो बहुत जटिल हैं। बीस-बीस पेज का एक वाक्य सरामागो के उपन्यास में है। मुक्तिबोध को पढ़ना बहुत जटिल काम है। मुक्तिबोध को पढ़ना आसान नहीं है। लेकिन मुक्तिबोध हमारे सबसे बड़े कवि क्यों हैं?

साहित्य और आम आदमी की जो दुनिया है उसके बीच में गैप बहुत बड़ा है और ये गैप कल्चरल ही नहीं है, ये एक पॉलिटिकल गैप है। इसकी पूरी एक पॉलिटिक्स है। राजनीति ये है- जो ब्रेख्त कहते थे न कि- 'हंगरी मैन, गो टु द बुक, इट्स ए वीपन।' -भूखे आदमी, किताब की ओर जाओ, यह एक हथियार है।' ये स्थिति है, लेकिन यहाँ कहा जाता है कि भूखे आदमी को क्या मतलब है किताब से? उसको पहले रोटी चाहिए। रोटी तो चाहिए ही चाहिए, लेकिन उसको रोटी के अलावा किताब भी चाहिए। ये पूरी पॉलिटिक्स है, हमारे देश की। एक भेड़चाल पूरी जारी है। इसकी पूरी कोशिश राजनीति करती आ रही है।

- देखिए, हमारे यहाँ लोगों में पुस्तक पढ़ने का संस्कार नहीं है। मूल चीज़ यह है कि संस्कार नहीं है। दूसरा, साहित्य में और आम आदमी की जो दुनिया है उसके बीच में गैप बहुत बड़ा है और ये गैप कल्चरल ही नहीं है, ये एक पॉलिटिकल गैप है। इसकी पूरी एक पॉलिटिक्स है। इसकी पूरी एक राजनीति-सी है। राजनीति ये है- जो ब्रेख्त कहते थे न कि- 'हंगरी मैन, गो टु द बुक, इट्स ए वीपन।'- भूखे आदमी, किताब की ओर जाओ, यह एक हथियार है।' ये स्थिति है, लेकिन यहाँ कहा जाता है कि भूखे आदमी को क्या मतलब है किताब से, उसको पहले रोटी चाहिए। रोटी तो चाहिए ही चाहिए, लेकिन उसको रोटी के अलावा किताब भी चाहिए। ये जो पूरी पॉलिटिक्स है, हमारे देश की जो एक भेड़चाल पूरी जारी है, इसकी पूरी कोशिश राजनीति करती आ रही है। और नहीं, तो क्या वजह है?

बलराम गुमास्ता : पर यह है कि हिन्दी में इतना महत्त्वपूर्ण काम हुआ है संगीत को लेकर, जैसे उपन्यास की शक्ल में 'जलतरंग' में आया। ये तो बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि इस तरह से व्यवस्थित काम बहुत कम मिलता है। ये एक बड़ी सुन्दर शुरूआत है और जिस तरह से समय हमारे सामने है, इसके प्रतिरोध के लिए ज़रूरी है कि इन चीजों को आगे बढ़ाया जाये। क्योंकि कला जब तक मीडिएट नही करेगी- संस्कार, संस्कृति, इस तरह से तब तक रिच नही होगी। आज तमाम चीज़ों का जो विखण्डन है, आप उनका सामना नहीं कर सकते। इसलिए मुझे लगता है कि ये बहुत महत्त्वपूर्ण काम है।

- उपन्यास में तो ये है। प्रमाण है। आप संगीत के ज़रिये भी एक बड़ा प्रतिकार कर सकते हैं और ये उपन्यास प्रत्यक्ष है। अचानक मुझे अपनी कविता याद आ गयी- हालाँकि ये बड़बोलापन न हो तो मैं उल्लेख कर दूँ, क्योंकि सन्दर्भ वो है- मेरी एक छोटी-सी कविता है 'प्रतिकार'- 'जहाँ-तहाँ/ इधर-उधर/ चारों तरफ/ जो कुछ भी लिखा था शोर की तरह/ उसे ही लिखता मैं संगीत की तरह।' इसका नाम भी 'प्रतिकार' है। तो प्रतिकार इस तरह भी होता है और इसकी बहुत ज़रूरत है।

विनय उपाध्याय : तमाम मुद्दे अभी बातचीत के दौरान खुले और बहुत सारे बाकी भी रह गये है। लेकिन ऐसा होता ही है, हमारी बातचीत को कहीं एक दिशा देनी होती है।

- मैं इसमें एक बात और जोड़ दूँ। साहित्य से जो माँग है कि वो अपने को सरल बनाये। ये माँग जगह-जगह से उठती है, विदेशों में भी उठती है। मुझे लगता है कि ये माँग विश्व स्तर पर उठ रही है।

लेकिन आप एक लेखक के संसार में जब प्रवेश करते हैं तो उसका संसार दूसरों के संसार से कुछ अलग होगा, उसकी अपनी कुछ शर्तें होंगी- मुझे लगता है कि उन शर्तों को मानकर ही आप प्रवेश करें तो शायद बेहतर होगा। मसलन जब विवेकानन्द यह कहते हैं। जब विवेकानन्द से किसी ने पूछा कि आप ये काशाय वस्त्र- केसरिया- धारण किये रहते हैं। आप ये क्यों करते हैं? विवेकानन्द ने कहा- 'मैं इसलिए करता हूँ ताकि लोगों को यह पता चले कि मुझसे बात करने की शर्त ये है, मैं ऐसा हूँ।' यानी ये मेरा वो है, मिनिमम आप मुझसे इस तरह से बात कीजिये, ये ध्यान में रखकर बात कीजिये। ये ही मुझे लगता है कि हर लेखक की अपनी कुछ शर्तें हैं उसके घर में प्रवेश करने की और उस घर में लगभग शर्तों को मानकर ही प्रवेश किया जाना चाहिए।

भारत भवन भोपाल में संतोष चौबे के नये उपन्यास 'जलतरंग' के लोकार्पण अवसर पर मंगलेश डबराल के साथ चित्रकार सचिदा नागदेव, सितार वादक स्मिता नागदेव, कवि राग तेलंग और कला समीक्षक विनय उपाध्याय.

कवि कविता के बारे में बात ही नहीं करते, लिखते हैं। पर संगीतकार हमारे यहाँ लिखने से कतराते हैं। अपने और अपने समय के संगीत पर लिखनेवाले संगीतकार बहुत कम हैं। हाल ही छपकर आयी पुस्तक 'सुनता है गुरु ज्ञानी' इस कमी को पूरा करने का एक लक्षणीय प्रयास है। आज के विख्यात संगीतशिल्पियों से की गई ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधुओं की यह 'बातचीत' अपने आप में 'अलग'भी है। बातचीत ने प्रश्नोत्तरी का रुप लिया है, पर इसे संगीत में गहरे उतरे संगीतकार का अन्य संगीतकारों से संवाद कहना उचित होगा। किसी भी कला में कलाकार की अंतरंग, अभिज्ञ संवेदना जब प्रश्न और विचार की ओर बढ़ती है तो उसकी खोज में एक सहज आत्मसंधान का भाव होता है, जहां कला अपने ही पर प्रश्न करती हुई, अपने ही को खोजती है, अपने को और खोलना चाहती है। शिल्पी यहाँ इस बातचीत में अपनी कला के बारे में बात करते हुए विरल गहराइयों में उतरे हैं और हमें भी उतरने का निमंत्रण देते हैं। हममें बंधी लकीरों से, सोचने की बँधी-बँधाई प्रथा से हट कर अलग विस्तार और संभावना का बोध जगाते हैं। समझ को संधान के लिये ललकारते हैं।

सुनता है गुरु ज्ञानी

बहते सुर का दरिया

मुकुन्द लाठ

आवश्यक नहीं कि कलाकार लिखे भी। लिखना विचार को ऊह्य रखता है, पर कला-कर्म भी अपनी तरह का विचार ही होता है। भाव-चित्त का विचार। पर यह विचार अभिधा में नहीं, व्यंजना में होता है। उसकी शब्दों से अलग अपनी भाषा होती है, जैसे संगीत की भाषा स्वर है, उसे लिखा नहीं, गाया-बजाया जाता है। पर कोई भी कला हो, कविता ही सही जो शब्दों की कला है, कला भाव से संबंध रखती है और उसकी अभिव्यक्ति व्यंजना के माध्यम से होती है। यह बुद्धि का युक्ति-विचार नहीं होता, संवेदना का आत्मविमर्श होता है। पर युक्ति-विचार से, प्रत्ययों की भाषा से, अभिधा के सीधे, अवक्र वर्णन-लक्षण से हम बच नहीं सकते। कला-कर्म कितना ही व्यंजना-प्रतिष्ठ हो, कला पर बात अभिधा की मांग करती है। कलाकार ऐसी बात भी करता ही है। अपनी विद्या को समझना, सिखाना, गुण-दोष का प्रकाश...., ये अभिधा की, युक्ति-विचार की मांग करते हैं, जिसके बिना हमारी किसी प्रवृत्ति या अभिव्यक्ति का काम नहीं चलता। यह संवेदना का नहीं, बुद्धि का आयाम है, और यह हमें लिखने की ओर भी अनायास प्रवृत्त करता है। कला का वर्णन-लक्षण ही नहीं, उसकी व्याख्या, विवेचना, मीमांसा, सिद्धांत-रचना, इतिहास, समीक्षा, कला-बोध-विमर्श, कला-दर्शन.... ये लिख कर ही होते हैं। इनका संप्रेषण-संरक्षण सहज ही लिखने की मांग करता है। यह विमर्श की प्रक्रिया है, अपना स्वतंत्र रूप और तंत्र उभारती है, अपनी परंपरा बनाती है जो व्यवस्थित चिंतन का, शास्त्र का, रूप लेती है। यह व्यापकतर विचार-संस्कृति का अंग होती है। मत-मतांतर, दृष्टि-भेद, चर्चा, वाद-विवाद में पलती है।

पर फिर भी हम पाते हैं कि कलाकार का विमर्श-विचार भी व्यंजना को सहज समोए रखता है। इसलिये उसकी बात कभी विषम, विरोध-व्याहत सी जान पड़ सकती है। किसी गायक या रसिक की एक मामूली सी उक्ति लीजिये : तान ऐसी हलकी सी थी कि फुर्र से उड़ गई, ये आई, वो गई। ऐसी लक्षणा या उत्प्रेक्षा कहिये इससे हम परिचित ही हैं, इसे समझने में दिक्कत नहीं आती, लगता है, ठीक ही तो है, ऐसी (चिड़िया की) उपमा में ही अनुभव को कहा जा सकता है। पर व्यंजना और व्यापक होती हुई इससे कहीं गहरे उतर जा सकती है। तीखे स्वतःविरोध की ओर भी बढ़ती देखी जा सकती है। शिल्पी जब अपने शिल्प के स्वरूप को शिल्प की आत्मा को ही समझना-समझाना चाहता है, तब उसकी उक्तियों को देखिये। कवि कहता है, 'कविता मौन में बोलती है'। और (जैसा हम आगे देखेंगे) संगीतकार कह सकता है, 'संगीत स्वरों में नहीं, स्वरों के बीच ओझल रहता है। कहना न होगा कि ऐसी विरोधगर्भ उक्तियों का सार्थक ग्रहण हम व्यंजना को साथ रख कर ही करते हैं। ऐसी उक्तियाँ संवेदना का बुद्धि-विमर्श कही जा सकती हैं। ये हमारे शिल्प-बोध को बोध के मर्म में उतरने के लिये ललकारती हैं। पर ये हमारे विचार-विवेचना की युक्ति-बुद्धि को भी ललकारती हैं। मीमांसा की मांग करती हैं। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक देखिये।

हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-स्वभाव, यह प्रधान है, राग के स्वर राग के अनुकूल लगते हुए ही अपना स्थान बनाते हैं। हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-प्रयुक्त स्वरों का स्थान, उनका औचार ('उच्चारण', जिससे तात्पर्य है: उनका लगाव, उनका अन्य स्वरों से सम्बन्ध, स्वरों के बीच के अंतरालों पर स्वर-संचार) राग का अपना होता है, विशिष्ट होता है। यों रागदारी में स्वर चलायमान होता है, राग की गति के अनुकूल अपना स्थान बनाता चलता है।

पर अब बात नहीं बढ़ा कर मैं प्रस्तुत बातचीत से एक आधारगत विरोध का उदाहरण लेता हूँ। उस्ताद फ़हीमुद्दीन डागर से एक तीखा, बड़ा आधारगत सवाल पूछा गया है: 'डागर घराने में षड्ज को अचल नहीं मानते हैं। आप इसकी व्याख्या किस तरह करते हैं? विरोध यहाँ गहरा और हमारी संगीत की समझ की नीव पर ही बैठा दिखता है। षड्ज सचल होगा तो दूसरे स्वर बनेंगे ही कैसे? षड्ज के अचल आधार पर ही तो दूसरे स्वर अपना स्थान लेते हैं! या यों कहिये कि दूसरे स्वर षड्ज-सापेक्ष होते हैं। षड्ज एक स्थान पर स्थिर निरपेक्ष होता है।

यह ठीक है, पर विचार कीजिये। यह देखिये कि उत्तर देते हुए उस्ताद षड्ज के चल-भाव को राग-भाव (उनके शब्दों में राग का 'तसव्वुर') के साथ जोड़ते हैं। डागर घराना हर राग के अनन्य स्वभाव में बड़ी सूक्ष्मता से उतरने का संधानी रहा है। सच पूछिये तो रागदारी का संधान ही यही है। हम रागदारी की टोह लेते हैं तो पाते हैं कि इस प्रक्रिया में राग प्रधान होता है, स्वर गौण। राग-गायकों (और राग-रसिकों) में यह अनुभव बहुत नया भी नहीं है। रागभाव की धारणा इसी अनुभव की उपज है। 17वीं सदी में अहोबल ने राग की प्रधानता को बड़े क्रांत स्वरों में व्यक्त करते हुए कहा था कि स्वर पहले नहीं होता, राग पहले होता है। हम स्वर को पूर्व-प्रदत्त मानने के आदी हैं, और शास्त्र भी यही कहते हैं, पर राग-संगीत में स्वरों का अपना कोई पूर्व-प्रदत्त स्थान या नियत अंतराल नहीं होता। स्वर का स्थान, उसका अन्य स्वरों से अंतराल, वही होता है जिसकी राग मांग करता है। और राग स्वरों का चयन अपनी तरह करता है, और उन्हें अपनी गति के भीतर जो स्थान देता है, वह स्थिर नहीं, चल होता है, ये राग के 'चलन' के साथ सचल, गतिशील बना रहता है। तात्पर्य यह कि रागदारी की आत्मा ही यह है उसमें स्वर की धारणा को किसी 'नियत स्थान' की धारणा से नहीं समझा जा सकता। राग और स्वर के संबंध का यह प्रधान-गौण-भाव रागभाव के भीतर उतरने के अनुभव में जागा है, और राग को स्वर पर प्राथमिकता देता है। उस्ताद फ़हीमुद्दीन का इशारा इसी ओर है। पर वे बात को एक कदम और आगे ले जाते हैं, षड्ज को भी चल बताते हैं। उनके कथन पर ध्यान दें तो आशय स्पष्ट है कि अहोबल की तरह ही उनके लिये भी राग और राग का अपना भाव-स्वभाव, यह प्रधान है, राग के स्वर राग के अनुकूल लगते हुए ही अपना स्थान बनाते हैं। हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-स्वभाव, यह प्रधान है, राग के स्वर राग के अनुकूल लगते हुए ही अपना स्थान बनाते हैं। हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-प्रयुक्त स्वरों का स्थान, उनका औचार ('उच्चारण', जिससे तात्पर्य है: उनका लगाव, उनका अन्य स्वरों से सम्बन्ध, स्वरों के बीच के अंतरालों पर स्वर-संचार) राग का अपना होता है, विशिष्ट होता है। यों रागदारी में स्वर चलायमान होता है, राग की गति के अनुकूल अपना स्थान बनाता चलता है।

इसके बाद यह निष्कर्ष स्वतःसिद्ध लगता है कि षड्ज भी तो और स्वरों में स्वर ही है, उसकी प्रकृति अचल कैसे हो सकती है, वह भी चल ही है। पर विचार यहीं रुक नहीं सकता। प्रतिप्रश्न होगा दूसरे स्वरों में और षड्ज में क्या मौलिक अंतर नहीं है? षड्ज आधारश्रुति है। उसके आधार पर दूसरे स्वर बनते हैं, वह अपने होने में ही- अपने स्वरूप में ही - अन्य स्वरों जैसा स्वर नहीं है। वह स्थिर निरपेक्ष रह कर ही अन्य स्वरों की सापेक्षता को संभव करता है। वह घूमते हुए चक्र के नाभि-बिंदु की तरह है अचल रहता हुआ ही स्वर-चक्र को चलायमान रखता है। उसको निरपेक्ष रखते हुए ही अन्य-स्वरों की परस्पर-सचल सापेक्षता बनती है। डागर साहब इसी बात की ओर झुकते हैं जब वे यह कहते हैं षड्ज का कोमल-तीव्र नहीं होता, वे यह भी कह सकते थे कि दूसरे स्वरों की तरह षड्ज का लोप भी नहीं किया जा सकता। उसको लोप करने का अर्थ ही क्या होगा? क्योंकि कोई भी स्वर हो, कितना ही सचल हो, अचल आधारश्रुति से विशेष अंतराल/अंतरालों पर ही रूप लेता है। षड्ज, या 'सा' कहिये, वही अपने स्थान पर नहीं टिका हो, स्वभाव से स्थान-च्युत, विस्थित, विस्थापित हो तो सप्तक के अन्य स्वर बनेंगे कैसे? वे कितने ही चल हों, छिटक कर जहां कहीं भी तो नहीं भटक जा सकते! हर स्वर अंतरालों के सीमित वलय के भीतर ही बनता है। और यह वलय

अचल, अनभटके षड्ज की अपेक्षा रखता है। तभी षड्ज के अचल होने की बात हमारे राग-संगीत-बोध की घुट्टी में ही पड़ी होती है। अनिवार्य भाव से ऊह्य रहती है- कहें न कहें, हम इसे मान कर चलते हैं। और तभी यह भी देखिये कि षड्ज हमारे लिये तानपुरे पर (या आधारश्रुति देनेवाले किसी और यन्त्र पर) जहाँ बनता है, हम उसको वहीं बनाये रखते हैं, अचल रखते हैं। उस्ताद फ़हीमुद्दीन जैसे रागदारी के प्रवीण, गहरे गायक तो बड़े जतन और अवधान के साथ ऐसा करते हैं। स्वर के चल-भाव को बड़ा बाँधा हुआ अचल आधार देते हैं। तानपुरे पर 'सा की जोड़ी विशेष ध्यान से बाँधते हैं।

और यह भी सोचिये कि ऐसा न किया जाये तो स्वर और विस्वर (बेसुरा) में अंतर ही क्या होगा?

स्वर को हम कितना ही सापेक्ष मानें स्वर और विस्वर का भेद तो करते ही हैं। स्वर साधते हैं और विस्वर से बचते हैं, उसका निराकरण करते हैं। ऐसा क्यों? सभी स्वर - और स्वरों का आधार षड्ज भी - अगर चल है, तो स्वर-विस्वर में भेद करने का अर्थ ही क्या होगा? स्वर-मात्र को चल मानने वाले के लिये यह प्रश्न, प्रश्न ही बना रहेगा। इसका उत्तर क्या होगा? पर हर गाने-बजाने में, रागदारी में भी, साधना सुर लगाने की. बेसुरे से बचने की होती है। रागदारी विस्वरत्व की धारणा को, स्वर के बेसुरे हो जाने की संभावना को निराकृत नहीं करती। उसे तिलांजलि नहीं दे देती है, जैसा कि षड्ज को सचल मानने पर अनिवार्य है। कहना न होगा कि डागर साहब भी स्वर-विस्वर के भेद से इनकार नहीं करना चाहते - करते तो सीखने-सिखाने का ही कोई अर्थ नहीं बनता। उनके कहने का तात्पर्य वक्र है, व्यंजनामय है।

वे बहुत खूब जानते हैं कि स्वर कितने ही परस्पर सापेक्ष क्यों न हों, उनका स्वर-विशेष होना उस निरपेक्ष, ध्रुव, अचल ध्वनि को ऊह्य रखता है जिसे हम षड्ज या आधारश्रुति कहते हैं। यह ध्वनि किसी यंत्र पर उभारी न भी जाये को भी ऊह्य रहती है: उस ध्वनि का हम लोप भी कर दें तो भी वह आधार के रूप में बोध-निहित रहती है। मूर्छना बनाने में हम सप्तक के दूसरे किसी स्वर-स्थान को षड्ज का रूप देने की दिशा लेते हैं। पश्चिम के संगीत में तो यह संगीत की गति का अभिन्न अँग भी होता है। पर रागदारी में यह एक छेड़ ही होती

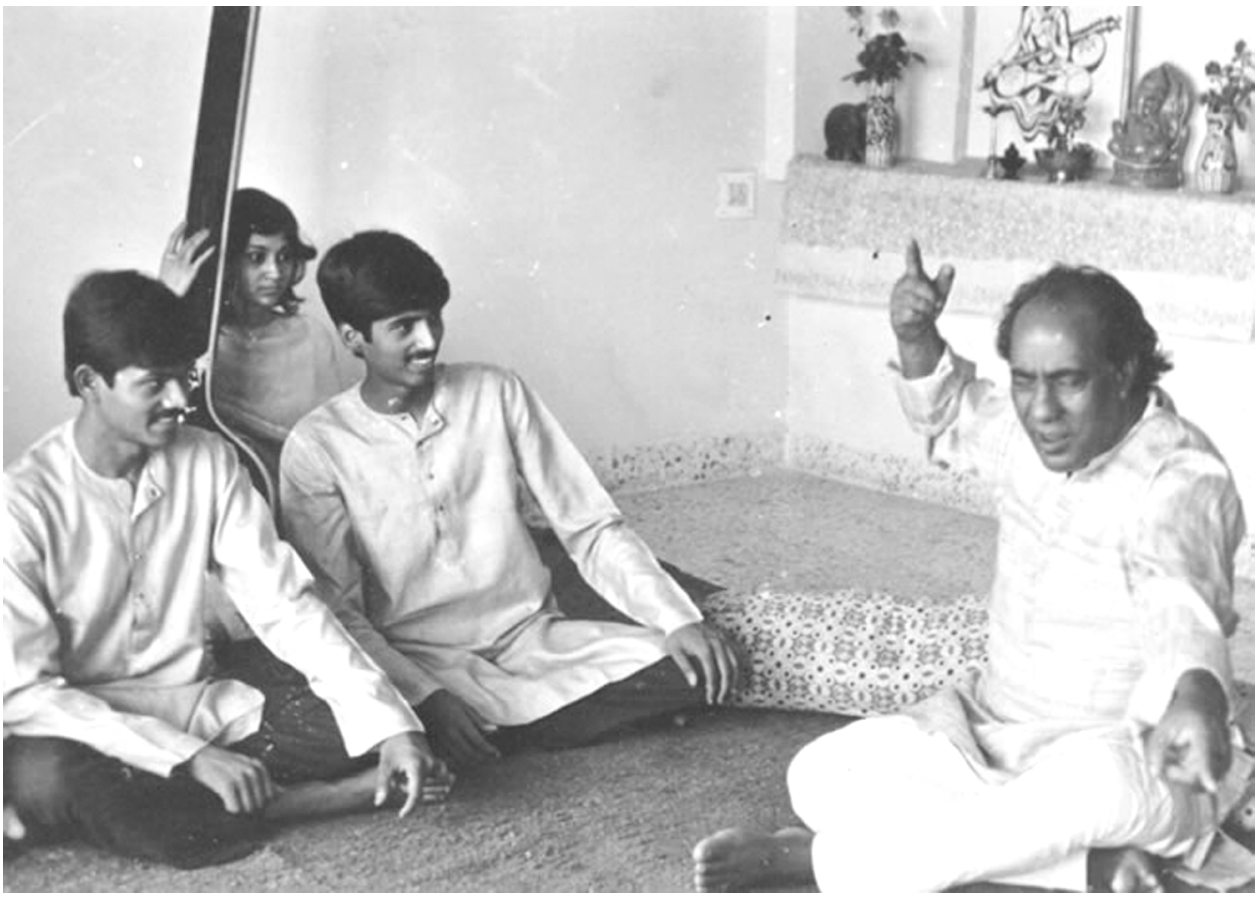

हर गाने-बजाने में, रागदारी में भी, साधना सुर लगाने की. बेसुरे से बचने की होती है। रागदारी विस्वरत्व की धारणा को, स्वर के बेसुरे हो जाने की संभावना को निराकृत नहीं करती। उसे तिलांजलि नहीं दे देती है, जैसा कि षड्ज को सचल मानने पर अनिवार्य है। कहना न होगा कि डागर साहब भी स्वर-विस्वर के भेद से इनकार नहीं करना चाहते - करते तो सीखने-सिखाने का ही कोई अर्थ नहीं बनता। उनके कहने का तात्पर्य वक्र है, व्यंजनामय है।

है, नहीं तो स्वर ही बदल जायेंगे, वह राग नहीं रहेगा जिसे हम विस्तार देना चाहते हैं। तभी तानपुरे पर षड्ज का घोष बनाये रखा जाता है। सच यह है कि राग के स्वर कितने ही सचल हों, उनका जो राग विशेष में व्यूह विशेष बनता है, वह षड्ज की (आधारश्रुति की) अचल नाभि पर ही टिका होता है। रागदारी में किसी भी स्वर का तत्वस्वर-विशेष होना षड्ज-सापेक्ष होता है, पर षड्ज अन्य-स्वर-सापेक्ष नहीं होता।

दोहराना न होगा कि उस्ताद भी षड्ज की इस 'स्थिति' को ऊह्य मान कर चल रहे हैं। पर फिर उनका आशय क्या? अगर कोई कुशल अभिज्ञ शिल्पी अकेला ही नहीं, उसका पूरा संप्रदाय या घराना ही, जानबूझ कर षड्ज को सचल कहता है तो बात तात्पर्यहीन स्वतोविरोध की या खोखला चमत्कार जगाने की नहीं हो सकती। बात को अयुक्त हठाग्रह कह कर भी नहीं टाल दिया जा सकता। स्पष्ट ही विरोध यहाँ विरोध नहीं, विरोध का तात्पर्य-रखता आभास है। विरोध में वक्रता है। हमारी लीक-चलती समझ को एक ऐसी चोट देने का आशय है यहाँ, जिससे वह लीक से हटे, खुले, कुछ गहराई में उतरे। रागदारी में निहित स्वर-धारणा की साधारण, 'शास्त्र-निष्ठ' अनपहचान की टोह ले, समझे।

मैं समझता हूँ बात का वक्र इंगित यह है कि रागदारी में स्वर को स्थान के रूप में नहीं, प्रवाह के रूप में देखना-समझना चाहिये। हमारा पुराना 'शास्त्रीय' बोध- जो आज का भी साधारण स्वीकृत सा बोध है - स्वरों को नियत स्थान पर स्थित मानता है। हमारी समझ में यह पैठा हुआ है कि स्वर स्वरूप से ही 'स्थित', 'अचल' होता है। और स्वरोह के बीच के अंतराल स्वर नहीं होते। पर रागदारी का स्वर बहता हुआ स्वर होता है। स्वरों के बीच का अंतराल विस्वर नहीं होता, अपने लगाव या प्रयोग-विशेष से स्वर को राग के अनुरूप खड़ा करता है। उसमें चल-भाव बना रहता है, जो स्वर को भी एक चलायमानता का स्पन्द देता है। रागदारी के स्वर-सप्तक में एक निरंतरता होती है जिसके लिये नदी की उपमा ली जा सकती है। ऐसा नहीं है कि स्वरों में नियत भाव होता ही नहीं, पर एक स्वर की नियति भी पूर्वप्रदत्त नहीं, राग के अनुकूल होती है, और फिर नियत स्वर भी अंगद का पाँव नहीं होता सचल स्पंद रखता है, राग की चाली में, या यों कहिये कि राग की गति के साथ उसका स्थान तत्वगति सापेक्ष भी हो सकता है, जैसे मींड, घसीट, आन्दोलन, कंप, गमक... जैसे प्रयोगों में। और यह बात षड्ज पर भी लागू होती है। षड्ज पर की गई गमक को ही लीजिये, वह षड्ज को बीच में रखती हुई उसके आसपास मँडराती है- यही उसका 'गमक' (गतिशील) होना है।

सप्तक में नैरन्तर्य की संभावना को प्रधान रखना या न रखना, यह संगीत मात्र की प्रवृत्ति की ऐसी दो भिन्न दिशायें कही जा सकती हैं, जो संगीत के स्वरूप में ही निहित हैं। हारमोनियम दूसरी प्रवृत्ति का प्रतीक है, और सारंगी पहले की। रागदारी में पहली प्रवृत्ति बड़े आत्मचेतन भाव से हावी रहती है। पश्चिम के संगीत में दूसरी प्रवृत्ति हावी रहती है। हारमोनियम हमारे लिये उस दूसरी प्रवृत्ति का सूचक है जहाँ स्वर-नैरंतर्य को जानबूझ कर गौण रखा जाता है। तभी हम हारमोनियम पर आपत्ति करते हैं।

पंडित देबू चौधरी एक दिलचस्प बात सामने रखते हैं। पश्चिम के संगीत में, हारमोनियम-प्राकृतिक पियानो का महत्त्व बहुत बड़ा है। स्वरों को उसी पर रखा जाता है। बड़े ध्यान से नापतोल कर बराबर दूरी पर 'बाँधा' जाता है। इसे टेंपर्ड मेल - स्केल - कहते हैं। इसके बिना पश्चिम संगीत की पोलीफोनी (एकाधिक स्वरों का साथ बजना) पूरे सामंजस्य के साथ नहीं उभारी जा सकती। पर पश्चिम में वायलिन भी एक प्रधान यंत्र है। वायलिन सारंगी की तरह सहज ही स्वर-प्रवाह को प्रश्रय देती है। देबू चौधरी कहते हैं कि पश्चिम की कोई रचना - ''पीस'' - जब पियानो और वायलिन पर बजती है तो दोनों में बड़ा फ़र्क सुनाई देता है। कारण यही है कि वायलिन स्वर-नैरंतर्य यंत्र की प्रकृति का अंग है। स्वर वहाँ अनायास 'चल' हो जाता है। तभी यह यंत्र रागदारी के अनुकूल पाया गया है। हारमोनियम नहीं। पर वॉयलिन यह भी दिखाती है कि हमारे विपरीत पश्चिमी संगीत में जहाँ स्वर को स्थान-विशेष पर अचल बाँध देने की मांग गहरी है, संगीत के स्वरूप में ही निहित है, वहाँ भी नैरंतर्य को सर्वथा त्यागा नहीं जाता। यह त्याग संभव ही नहीं है। पर स्वर की अचलता को गौण किया जा सकता है।

लोक साहित्य में सांस्कृतिक चेतना

वसंत निरगुणे

विमर्श

कोई भी लोक साहित्य आख़िर किसी भी देश का वाचिक साहित्य ही होता है। साहित्य और लोक साहित्य में सबसे अधिक 'लोक' ही समाया होता है। जिस प्रकार संस्कृति और लोक संस्कृति में अभेद है, उसी प्रकार साहित्य और लोक साहित्य एक-दूसरे में अन्तस्थ हैं। बस, हम अपनी सुविधा के लिए साहित्य के खेमे बनाने में प्रवीणता दिखाने का काम करते हैं। यह ऊपर के आवरण हैं। गहरे में आने पर दोनों के अन्त: सूत्र एक ही मिलते हैं। ये अन्त: सूत्र संस्कृति के होते हैं। संस्कृति एक सजीव और जीवन्त प्रक्रिया है। उससे मनुष्य का एक सांस्कृतिक वलय बनता है। इस वलय को ही सांस्कृतिक चेतना कहा जाना चाहिए।

मेरे अनुभव में लोक साहित्य और कुछ नहीं, जीवन की अनुभूतियों का नाम है। जिन्हें लोगों ने अपनी वाचिकता में 'शब्द' (बोल) दिये हैं। 'छन्द' दिये हैं। यह सांस्कृतिक चेतना मनुष्य विकास के साथ चली है। बोली या भाषा मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की सबसे बड़ी देन हैं। जिसने मनुष्य की अभिव्यक्ति के समस्त सहज और सरल साधन सुलभ कराये। मनुष्य की अभिव्यक्ति के और भी कई साधन हो सकते हैं। जिनमें संकेत, बिम्ब, प्रतीक, मिथक ये भाषा के ही अंग हैं। इनके अतिरिक्त चित्र, मूर्ति, शिल्प, गीत, नृत्य, नाट्य संगीत आदि भी मनुष्य के भाव-विचार की अभिव्यक्ति का सबसे सरल, सुबोध और निकटतम साधन जान पड़ता है। भाषा मात्र लिपि नहीं, जब तक उसमें समृद्ध सांस्कृतिक चेतना या शक्ति का पर्याप्त संचार न हो। हम हिन्दी का ही उदाहरण ले सकते हैं। हिन्दी भाषा बन गई। उसकी लिपि देवनागरी बनी, हिन्दी में बहुत उत्कृष्ट साहित्य रचा गया। जो विश्व साहित्य की बराबरी कर सकता है, लेकिन हिन्दी की अपनी कोई संस्कृति विकसित नहीं हुई। जब हम हिन्दी की संस्कृति की बात करते हैं, तब हम संस्कृत भाषा की संस्कृति की तरफ झांकने लगते हैं। मेरा मानना है कि जितना अधिक संस्कृत और बोलियों की संस्कृति का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होगा, उतनी ही हिन्दी की संस्कृति का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होगा, उतनी ही हिन्दी की संस्कृति का भण्डार भरता चलेगा। हिन्दी की संस्कृति के विकास का पथ इन्हीं दोनों माध्यमों से होकर खुलेगा।

मनुष्य की अभिव्यक्ति के और भी कई साधन हो सकते हैं। जिनमें संकेत, बिम्ब, प्रतीक, मिथक ये भाषा के ही अंग है। इनके अतिरिक्त चित्र, मूर्ति, शिल्प, गीत, नृत्य, नाट्य संगीत आदि भी मनुष्य के भाव-विचार की अभिव्यक्ति का सबसे सरल, सुबोध और निकटतम साधन जान पड़ते हैं।

मनुष्य अपने परिवेश में बोली-भाषा गढ़ता है और अपने आसपास संस्कृति को बुनता है। मनुष्य परिवेश से 'भाषा' अथवा 'बोलना' सीखता है। भाषा संस्कृति की आख्या है। जिसमें उसकी सांस्कृतिक चेतना गुंथी रहती है।

पृथ्वी की भौगोलिक विभिन्नताओं और मानव चेतना के समर्थ बिम्बों ने सृष्टि में कई बोलियों को जन्म दिया। प्रत्येक आदिम जनजाति समूह और लोक समाजों ने पदार्थ की अनुभूतियों के आधार पर अपनी-अपनी मेधा से शब्द गढ़े। शब्दों की ध्वनियां रची, व्याकरण की रचना की और बोली अथवा भाषा का संसार विकसित हुआ। बोली के मूल में मानव की वह सार्वभौमिक चेतना रही होगी, जो उसे अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों पर जोड़ने की छटपटाहट में महसूस हुई होगी। इन्हीं संस्तरों से सांस्कृतिक चेतना का विकास और विस्तार हुआ होगा, जिसे 'साहित्य' की संज्ञा

से अभिहित किया होगा। बिना सांस्कृतिक चेतना के कोई भी साहित्य निर्मित नहीं हो सकता। इसलिए कहा जाता है कि साहित्य संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति के विभिन्न आयामों में साहित्य का स्थान अहं और विशिष्ट होता है। उसकी भूमिका निर्विवाद रूप से मनुष्य की संस्कृति को अक्षुण्ण रखना ही नहीं, बल्कि अपने समय के पदचिन्हों को भी अपने में समेटते हुए भविष्य को सौंपना भी होता है।

बोली-भाषा जो कुछ भी रचती है, वह सब 'साहित्य' नहीं होता। सर्व सामान्य बातचीत अथवा दैनंदिनी संवाद, कार्य व्यवहार में बोली गई भाषा भी साहित्य का दर्जा नहीं पा सकती। गाली-गलौच, लड़ाई-झगड़े की भाषा को हम किस सीमा तक साहित्यिक मान सकते हैं। फिर साहित्य या लोक साहित्य किसे माना जाय। सीधी-सी बात है कि साहित्य इन सब चीजों से बहुत ऊपर की वस्तु है। निश्चित रूप में साहित्य मानवीय संवेदना का घनीभूत काव्याकाश है, जो गद्य और पद्य दोनों में व्यक्त होता है। लोक साहित्य और साहित्य का एक अनुशासन अन्तश्चेतना और अनुमेय होता है, जो उसे एक अलग पहचान देता है। इसीलिए कहा जाता है कि किसी देश को जानना हो तो उस देश का साहित्य अथवा लोक साहित्य देख लेना चाहिए। ऐसा कहने के पीछे लोक साहित्य या साहित्य में सांस्कृतिक चेतना को देखना है। कोई भी साहित्य बिना संस्कृति अथवा सांस्कृतिक चेतना के निर्जीव ही है।

यह सांस्कृतिक चेतना क्या है? इसे पहले समझ लेना चाहिए। मैं मानता हूं, सांस्कृतिक चेतना के केन्द्र में मनुष्य का जीवन है। जीवन से हर प्रत्यय पैदा होता है और वही उसमें समाकर जीवन को संवारने का कार्य करता है। भाषा और साहित्य दोनों जीवन के अनिवार्य अंग हैं। उसमें संस्कृति प्राण का काम करती है। संस्कृति के बिना न भाषा और न उसका साहित्य प्राणवान हो सकता है। बस इसी बिन्दू से सांस्कृतिक चेतना का उद्गम होता है। केन्द्र में जीवन, उससे बनती संस्कृति और संस्कृति से बनता साहित्य। साहित्य संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना का 'उपबंध' है। जहां बंधकर जीवन सौन्दर्य सृजित करता है और साहित्य सौन्दर्य बोध अर्जित करता है।

सांस्कृतिक चेतना के उदय का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू प्रकृति है। वह प्रकृति जो निसर्ग में फैली है, जो मनुष्य जीवन को पल्लवित ही नहीं करती, बल्कि संचालित भी करती है। उसके 'ऋत' में जीवन पलता है और चलता है। उसका क्रम एक पल के लिए भी बाधित नहीं होता। दिक् और काल सबके सब प्रकृति से बंधे हैं। जीवन भी उसी से बंधा है। यह प्रकृति प्राणीमात्र को प्रेरित करती है। जीवन में कुछ सृजन करने की ओर ले जाती है। एक और प्रकृति होती है जो बाह्य प्रकृति का ही प्रतिरूप है। यह प्रकृति प्रत्येक प्राणी के भीतर होती है। मनुष्य में वह प्रकृति अधिक मुखर और बहुआयामी होती है। मनुष्य के भीतर की प्रकृति सृजन करती है। वह दृश्य-अदृश्य रहस्यों को जानने की कोशिश करती है। वह कविता, कथा, आख्यान, मिथक रचती है। जीवन के आनंद-उल्लास, सुख-दुख:, राग-विराग को व्यक्त करती है। रूप-अरूप की व्याख्या करती है। सबसे महत्वपूर्ण वह जीवन को सौन्दर्य प्रदान करती है। जिसमें जन्म से लगाकर मृत्यु तक समायी होती है। लोक साहित्य का सौन्दर्यबोध उसकी स्थानिकता में समाहित होता है। जो साहित्य जितना अधिक स्थानिक या अंचलिक होता है, वह उतना ही मौलिक, सार्वभौमिक और विश्वजनीन होता है। जिसकी रचना में सबसे बड़ा हाथ समाज की सामुदायिक सांस्कृतिक चेतना का हाथ होता है।

साहित्य में सांस्कृतिक चेतना समूहगत होती है। वह व्यक्तिगत नहीं, 'समष्टिगत' होती है, इसलिए उसका दायरा और दायित्व बहुत व्यापक होता है। ऐसे में किसी भी बोली या भाषा का वाचिक अथवा रचित साहित्य सांस्कृतिक धरातल पर सृष्टि का श्रृंगार बन जाता है। यही कारण है कि लोक साहित्य की सांस्कृतिक चेतना सारे संसार को 'एक सूत्रता' में बांधने की कोशिश करती है। जिसमें, जीवन, धर्म, आचरण, अध्यात्म, संस्कृति, साहित्य, विज्ञान सबकुछ एक 'सांस्कृतिक घटक' के रूप में उपस्थित होते हैं। जो देश की 'संस्कृति की धारा' बनकर हर समय में निरन्तर प्रवाहमान होती है।

सांस्कृतिक चेतना का सबसे केन्द्रीय भाव मूल्यबोध होता है। साहित्य का एक काम जीवन मूल्यों की रक्षा और रचना करना है। हर समय में समय के अनुसार जीवन के कुछ मूल्यबोध बदलते हैं, उनको साहित्य में दर्ज कर लेना और चले आ रहे बहुमूल्य पुरातन मूल्यों को अग्रसर करना, पीढ़ियों का दायित्व बनता है, जो केवल और केवल सांस्कृतिक चेतना के बल पर जीवन और साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर हमारी संस्कृति के आचार्यों ने केवल मूल्यों की फेहरिस्त नहीं बनाई, उन्होंने कथा, गाथा, मिथक और आख्यानों में कुछ इस तरह कुशलता से इसे शिल्प में बांधा कि वह केवल साहित्य मात्र ही न बने बल्कि सदैव के लिए 'श्रुति और स्मृति' का हिस्सा बन जाये। जीवन के हमारे सारे मूल्य किसी न किसी कथा-आख्यान से जुड़े हैं। हमारे पूर्वज सांस्कृतिक दृष्टाओं ने यह महत्वपूर्ण कार्य जानबूझकर बहुत सोच समझकर हमारे कालजयी पौराणिक लोकख्यानों के साथ किया है।

लोक में जितनी भी सांस्कृतिक परतें हैं, वे कभी एक दिन में निर्मित नहीं हुई। पृथ्वी पर मनुष्य की जातीय संस्कृति के अनेक चिन्ह पुरावशेषों में मिले हैं, इसके साथ मनुष्य की स्मृतियों में सांस्कृतिक परतों का दायरा हमारे समय तक चला आया है। उसकी ध्वनियां भी हमारे लोक के साहित्य के स्वरों में सुनाई देती हैं। किसी भी संस्कृति की सांस्कृतिक चेतना का आश्रय मूलत: वाचिक साहित्य में होता है, इसके साथ पर्व-त्योहार, पूजा-पाठ, अनुष्ठान, व्रत-उपवास, शिल्प, चित्र, मूर्ति, वस्त्र-वेशभूषा आदि में सांस्कृतिक रचना के प्रतिमान देखे जा सकते हैं। साहित्य कला और संस्कृति मानव जाति की सांस्कृतिक चेतना का ही प्रतिफल है। सांस्कृतिक चेतना की जड़ें बहुत गहरी हैं, जो मनुष्य के उद्विकास तक फैली हैं।

दास कबीर ने अनहद नाद के देश में पहुँचकर सहस्रार से भी ऊपर के लोक अष्टमचक्र सुरतिकमल में अपना निवास बनाया है। जहाँ से कभी वापस लौटना नही होता। जहाँ नाद भी पुनः शून्य में समा जाता है। अखिल ब्रह्माण्ड में परम अनहद नाद गूँजता रहता है।

अनहद बाजा बाजै

श्रीराम परिहार

कबीरदास की वाणी में ऐसे शब्द आये हैं, जो ब्रह्माण्ड, पिण्ड, साधना, प्राणायाम, योग, हठयोग, ब्रह्म, जीव, माया, जगत के प्रतीकार्थों के धारक हैं। कबीर का अवधूत, निरंजन, निर्गुण, बहुत झीणा है। जिस सहज समाधि की राह पर चलते हुए कबीर शून्य शिखर गढ़ पर पहुँचे हैं, वह राह अन्त:क्रियाओं की है। बहुत पहले नाथ पंथ ने परम शिव को पाने की हठयोग नामक साधना पद्धति खोजी। इस साधना पद्धति का बहुत कुछ कबीर ने अपनाया है। जिसे नाथपंथी द्वैत-अद्वैत से भी परे मानते हैं, वह परम तत्व ब्रह्मा भी नहीं है, विष्णु भी नहीं है, इन्द्र भी नहीं है, पृथ्वी भी नहीं है, जल भी नहीं है, वायु भी नहीं है, अग्नि भी नहीं है, आकाश भी नहीं है, वेद भी नहीं है, सूर्य भी नहीं है, चन्द्र भी नहीं है, विधि और कल्प भी नहीं है। वह सबसे विलक्षण ज्योति स्वरूप सत्य है।

इस विलक्षण ज्योति स्वरूप सत्य से सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित व्याख्या 'शारदातिलक' में बड़े सटीक ढंग से की गई है। शिव के दो रूप हैं- निर्गुण और सगुण।

शिव प्रकृति के योग से सगुण रूप में आविर्भूत होते हैं। सगुण शिव से शक्ति की उत्पत्ति होती है। शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होते हैं। निर्गुण शिव से सगुण शिव, सगुण शिव से शक्ति, शक्ति से नाद, नाद से बिन्दु, यह सृष्टि-रचना का क्रम है। नाद और बिन्दु अव्यक्त अवस्था में परम शान्त रहते हैं। नाद का बिन्दु में विस्तार होता है, तो स्फोट होता है। बिन्दु का स्फोट होते ही तीन स्थितियाँ प्रकट होती हैं, अपर नाद, अपर बीज और अपर बिन्दु। इन्हीं तीनों से क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न होते हैं। नाद, बीज और बिन्दु क्रमश: ज्ञान, इच्छा और क्रिया स्वरूप हैं। नाद परम ज्ञान है। बीज परम इच्छा है। बिन्दु परम क्रिया है। नाद, बीज, बिन्दु से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ये तीनों ही ज्ञान, इच्छा, क्रिया के रूप में स्फोटित होते हैं। सृष्टि का रथ अनवरत चल पड़ता है। चलता ही रहता है। नाथपंथ और तंत्रपंथ के निर्गुण शिव ही कबीर के निर्गुण राम हैं, या समकक्ष हैं। निर्गुण-सगुण, शिव-शक्ति, नाद-बिन्दु के रहस्य से भी न्यारा कबीर का 'राम निरंजन' है- 'राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।'

परम ज्योति स्वरूप सत्य निरंजन राम ही कबीर का साध्य है। साधना के मार्ग में अनेक ठौर हैं। अनेक रहस्यमय गुफाएँ हैं। आज्ञाचक्र में भँवर गुफा है। श्वास-प्रश्वास का निरंतर प्रवाह है। अनहद नाद की झीणी-झीणी ध्वनि है। बड़ा ही रोचक और अगम पथ है साधना का। नाथपंथ, जिसका कि कबीरदास पर गहरा प्रभाव है, की साधना पद्धति हठयोग के अनुसार- महाकुण्डलिनी नामक एक महाशक्ति है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जब यह महाशक्ति अपने अंश के साथ व्यक्ति में स्थित होती है, तो कुण्डलिनी कहलाती है। कुण्डलिनी और प्राण-शक्ति धारण करके ही जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है। जीव की तीन अवस्थाएँ हैं- जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न। तीनों ही अवस्थाओं में कुण्डलिनी स्थिर, निष्क्रिय और निश्चेष्ट रहती है। मानव शरीर की रचना इस रूप में भी सुन्दर है कि वह कुण्डलिनी जागरण के माध्यम से परम सत्य तक पहुँचाने में जीव का साधनधाम सिद्ध होता है। सिद्धों और नाथों ने और कबीर ने भी अपने अवधूत मार्ग से पिण्ड में ब्रह्माण्ड को देखा और पाया है। अपने साधना-चक्षुओं से उन्होंने देखा- पाया कि देह में स्थित मेरुदंड नीचे जाकर जहाँ वायु और उपस्थ में जाकर समाप्त होता है, वहाँ एक स्वयम्भू लिंग है। यह लिंग त्रिकोणात्मक अग्निचक्र में स्थित है। अग्निचक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्विणी की तरह कुण्डलिनी शक्ति स्थित शांत है।

योगी, तपी, तपसी और सिद्ध अनुभव से कहते हैं कि यह शरीर (पिण्ड) ब्रह्माण्ड से ही बना है। अत: जो ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में भी है। जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है। 'जो पिण्डे, सो ब्रह्माण्डे जानि, मानसरोवर करि असनानि।' इस पिण्ड (देह) में छ: चक्र हैं। गुदास्थान एवं जननेन्द्रिय के बीच मूलाधार चक्र है। इसमें चार पंखुड़ियाँ हैं। इसमें सूर्य निवास करता है। जननेन्द्रिय के मूल में स्वाधिष्ठान चक्र है, जिसमें छ: कमल-पंखुड़ियाँ

हैं। नाभि प्रदेश में मणिपूरक चक्र स्थित है, जिसमें दस पंखुड़ियाँ हैं। हृदय प्रदेश में अनाहदचक्र है, जिसमें बारह पंखुड़ियाँ है। कण्ठस्थान में विशुद्धाख्यचक्र स्थित है, जिसमें सोलह पंखुड़ियाँ हैं। दोनों भौहों के मध्य में आज्ञाचक्र या आकाशचक्र है, जिसमें केवल दो पंखुड़ियाँ हैं। इसके ऊपर मस्तिष्क प्रदेश में शीर्ष कमल है, जो सहस्रार कहलाता है; जिसमें सहस्र पंखुड़ियाँ। इसमें चन्द्रमा निवास करता है; जिसमें से अमृत झरता रहता है।

शिवसंहिता, गोरख सिद्धांत संग्रह, हठयोग प्रदीपिका, कबीर ग्रंथावली एवं अनेक साधक-संतों की वाणियों के प्रमाण यह कहते हैं कि मेरुदंड में प्राणवायु को श्वास-प्रश्वास में प्रवाहित करने वाली अनेक नाड़ियाँ हैं। मानव शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ हैं। मेरुदंड के बाँई ओर इड़ा है। दाँई और पिंगला है। दोनों के मध्य में सुषुम्ना है। इंगला और पिंगला के द्वारा प्राणवायु आती जाती रहती है। बाँई इंगला को चन्द्रनाड़ी और दाँई पिंगला को सूर्यनाड़ी भी कहते हैं। मध्य में स्थित सुषुम्ना के भीतर भी वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म नाड़ी है। कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने पर सुषुम्ना के मध्य स्थित ब्रह्म नाड़ी से ही ऊर्ध्वमुखी होकर एक-एक चक्र को भेदती हुई आज्ञाचक्र में स्थित होती है। यही कबीर का त्रिवेणी स्नान है। इड़ा गंगा, पिंगला यमुना और सुषुम्ना सरस्वती है। आज्ञाचक्र में त्रिकुटी है। यही संगम है। त्रिवेणी है। अवधूत कबीर यहाँ अहोरात्र स्नान करता रहता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने कबीर नामक ग्रंथ में अनेक पंथों, योगमार्गों, सिद्धमार्गों के आधार पर कुण्डलिनी जागरण, हठयोग और अनहद नाद की गंभीर व्याख्या और विवेचन किया है। कुण्डलिनी साधना द्वारा जाग्रत होकर ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर की ओर उठती है, तो उससे स्फोट होता है, जिसे 'नाद' कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का ही व्यक्त रूप 'बिन्दु' है। जो नाद अनाहत भाव से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वह ही व्यक्ति के भीतर प्रकाश रूप में नाद स्वरूप स्थित है। सांसारिक जीवन श्वास-प्रश्वास में बद्ध होकर माया-मोह ग्रसित जीवन जीता है। सामान्य स्थिति में व्यक्ति एक दिन-रात में 21,600 श्वास लेता-छोड़ता है। यह श्वास-प्रश्वास का कार्य इड़ा-पिंगला के मार्ग से निरंतर चलता रहता है। सुषुम्ना का मार्ग प्राय: बन्द रहता है। जब साधना द्वारा कुण्डलिनी जागरण होता है, तो सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त होता है। साधक सिद्धासन में बैठकर भ्रूमध्य पर ध्यान लगाता है। श्वास क्रिया तीन प्रकार की होती है। श्वास छोड़ना रेचक क्रिया है। श्वास लेना पूरक क्रिया है। श्वास रोकना कुंभक क्रिया है। वास्तव क्रिया कुंभक ही है, जिसमें श्वास सम पर आकर स्थिर हो जाती है। श्वास की कुंभक क्रिया ही कुण्डलिनी शक्ति को निरंतर ऊर्ध्वमुख कर ऊर्ध्व यात्रा की ओर अग्रसर करती है। इसी स्थिति में प्राण स्थिर हो जाता है। संसार की सारी क्रियाओं और स्मृतियों से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। प्राण शून्य पथ में स्थिर होकर पिण्ड में स्थित अनहद नाद को सुनने लगता है।

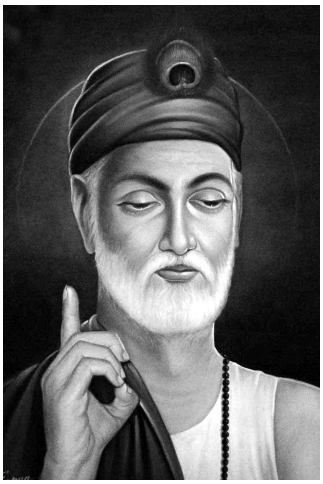

नाथ पंथियों की वाणी और कबीरवाणी के प्रमाण से कहा जा सकता है कि इस स्थिति में पहले तो शरीर के भीतर समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी और झाँझर आदि की-सी ध्वनि सुनाई देती है। फिर मांदल, शंख, घंटा की-सी मंद-मंद ध्वनि सुनाई देती है। अंत में किंकिणी, बंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है।

नाथ पंथियों की वाणी और कबीरवाणी के प्रमाण से कहा जा सकता है कि इस स्थिति में पहले तो शरीर के भीतर समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी और झाँझर आदि की-सी ध्वनि सुनाई देती है। फिर मांदल, शंख, घंटा की-सी मंद-मंद ध्वनि सुनाई देती है। अंत में किंकिणी, बंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। जिस प्रकार मकरंद पान में मस्त भ्रमर अद्भुत सुख का अनुभव करता है, उसी प्रकार इस स्थिति में पहुँचा योगी नादासक्त चित्त में नाद में ही रम जाता है। ज्यों-ज्यों मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों इन ध्वनियों का सुनाई देना बंद हो जाता है। चिदात्मक आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थिर होकर ब्रह्ममय हो जाता है। आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार में त्रिकोणाकार परम शक्ति का स्थान है। यही चन्द्रमा का स्थान है। चन्द्रमा में से सदा अमृत झरता रहता है। खेचरी मुद्रा में योगी अपनी जिह्वा को उलटकर तालु देश में ले जाता है और चन्द्रमा से झरते अमृत का पान करता है। यही अमृत सोमरस है। इसको पीने वाला अमर हो जाता है। अनहद का नाद निरंतर गूँजता रहता है। कबीर करते हैं-

अवधू, गगन मण्डल घर कीजै / अमृत झरै, सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै / मूल बाँधि सर गगन समाना, सुषमन यों तन लागी / काम-क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगणी जागी / मनवा जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा / कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा।।

कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती है, तब मन पूर्णत: शान्त हो जाता है। विषयों से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख हो जाता है। यह दशा ही उन्मन या कबीर के शब्दों में केवलास या कैलाश है। इस स्थिति में ही अनाहत नाद या अनाहद शब्द सुनाई पड़ता है। यह अवस्था ही तुरीय अवस्था है। दसवें द्वार का खुलना है। 'उनमनि चढ़्या मगन रस पीवै' गुरु गोरखनाथ अनुभव की वाणी कहते हैं- ऊँ पद्मासन पर बैठ जाओ और श्वास की ओर ध्यान लगाओ। मन को नष्टकर उस पर ताला लगा दो। तब गगन शिखर पर प्रकाश दीख पड़ेगा। यदि मन और श्वास को संयमित करके उन्मन की स्थिति प्राप्त कर लेता है, तो शरीर अनाहत नाद से गूँज उठता है।

दास कबीर ने अनहद नाद के देश में पहुँचकर सहस्रार से भी ऊपर के लोक अष्टमचक्र सुरतिकमल में अपना निवास बनाया है। जहाँ से कभी वापस लौटना नहीं होता। जहाँ नाद भी पुन: शून्य में समा जाता है। अखिल ब्रह्माण्ड में परम अनहद नाद गूँजता रहता है।

संदर्भ : हिन्दी नाटक

अस्तित्व का सवाल

वंदना ठाकुर

एक ज्वलन्त तथा गम्भीर नाटक तैयार करने के बावजूद यह गारन्टी नही होती कि दर्शक नाटक देखने आएंगे? अब सवाल यह उठता है कि क्या रंगमंच को अपने गम्भीर, प्रामाणिक, उच्च-स्तरीय, गहन-अनुभूति सम्पन्न रंगकर्म को छोड़ना होगा? दर्शकों को आकर्षित करने के लिए कलात्मक दृष्टिकोण की उपेक्षा कर व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाना होगा? वास्तव में इन शंकाओं ने वर्तमान नाटक और रंगमंच के अस्तित्व को लेकर गम्भीर चुनौतियाँ खड़ी कर दी है।

आज इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हम हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास की ओर दृष्टि डालें तो पाएंगे कि सृजनात्मकता के स्तर पर इसने इतना कुछ प्राप्त कर लिया है कि वह संसार के किसी भी रंगमंच के सामने बेहतर साबित होने का सामर्थ्य रखता है परन्तु अपनी विशिष्टताओं तथा उपलब्धियों के बावजूद आज हमारा हिन्दी नाटक और रंगमंच कई चुनौतियों, मजबूरियों तथा कठिनाइयों से संघर्षरत है जो उसके अस्तित्व के लिए ख़तरा बनी हुई है जिनके कारण हिन्दी नाटक और रंगमंच में एक गतिरोध की स्थिति आ गई है।

आज नाटक और रंगमंच को सबसे बड़ी चुनौती सिनेमा, टी.वी चैनलों और इन्टरनेट से है। यह प्रश्न भी आज बड़े ज़ोर-शोर से उठाया जा रहा है कि मीडिया तथा बाज़ारवाद के इस दौर में रंगमंच की सार्थकता क्या है? उदारीकरण तथा प्रोद्यौगिक उन्नति की आड़ में हो रहे सांस्कृतिक आक्रमण का सामना करते हुए वर्तमान नाटक और रंगमंच अपनी मौलिकता बरकरार रख पाएगा या नहीं?

1982 के बाद दूरदर्शन के राष्ट्रीय प्रसारण द्वारा भारतीय मनोरंजन जगत में एक व्यापक परिवर्तन आया। दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों जैसे धारावाहिक, फिल्म, टेलीफिल्म, गीत-संगीत आदि द्वारा दर्शक घर बैठे ही हर प्रकार का मनोरंजन तथा जानकारी प्राप्त करने लगा। जिसके कारण दर्शक जीवन्त माध्यम रंगमंच से दूर होने लगे। 1991-92 के बाद व्यावसायिक चैनलों की शुरूआत से तो स्थिति और भी अधिक विकट हो गई और बाकी रही सही कसर पूरी की इन्टरनेट ने। आज गम्भीर, सार्थक तथा प्रयोगशील नाटक के लिए दर्शकों का अभाव एक चुनौती साबित हो रहा है। आज हम देखते हैं कि फिल्मी सितारों तथा अंग्रेजी सेक्स कॉमेडी के आकर्षण में दर्शक महंगी टिकट खरीदकर सिनेमा हॉल में चले जाएंगे पर रंगशाला जाने के लिए मुफ्त में भी तैयार न होंगे। अधिकतर फिल्में तथा टेलीविजन धारावाहिक 'हिन्दी' में होने के कारण हिन्दी दर्शक के साथ ही रंगकर्मी भी उनकी ओर तीव्रता से उन्मुख हुए हैं। आज राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय या अन्य नाट्य-प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थिति आई.आई.टी शिक्षा-संस्थाओं जैसी हो गई है, जहां विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं और फिर डिग्री लेकर पैसा कमाने अमेरिका की ओर प्रस्थान कर देते हैं। ठीक उसी तरह नाट्य संस्थाओं या नाट्य प्रशिक्षण केंद्रों से प्रशिक्षित रंगकर्मी अपने अनुभव तथा प्रशिक्षण का फ़ायदा भविष्य में रंगमंच को और उसके दर्शक को न देकर छोटे या बड़े पर्दे के दर्शक को देते हैं।

एक ज्वलन्त तथा गम्भीर नाटक तैयार करने के बावजूद भी यह गारन्टी नहीं होती कि दर्शक नाटक देखने आएंगे? अब सवाल यह उठता है कि क्या रंगमंच को अपने गम्भीर, प्रामाणिक, उच्च-स्तरीय, गहन-अनुभूति सम्पन्न रंगकर्म को छोड़ना होगा? दर्शकों को आकर्षित करने के लिए कलात्मक दृष्टिकोण की उपेक्षा कर व्यावसायिक

दृष्टिकोण अपनाना होगा? वास्तव में इन शंकाओं ने वर्तमान नाटक और रंगमंच के अस्तित्व को लेकर गम्भीर चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

सिनेमा, टी.वी, इन्टरनेट जैसे विद्युत संचार माध्यम ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को जिस स्थिति में डाल दिया है, उसको लेकर काफी चिन्ता जताई जा रही है। लेकिन इस स्थिति का यह मतलब नहीं है कि आगे कुछ नहीं हो सकता। इस विषय पर सिद्धनाथ कुमार नाटक की आवश्यकता तथा महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं- ''आज के युग में रंगनाटक की महत्ता और आवश्यकता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। आज रंगमंच की आवश्यकता को अस्वीकार करना वैसा ही है जैसा यह कहना कि फोटोग्राफी के युग में चित्रकला की आवश्यकता नहीं है'' लेकिन फिर भी आज विश्व के किसी भी देश में रंगमंच की स्थिति संतोषजनक नहीं है। आज शहरों में जगह-जगह हमें सिनेमाघर मिलेगें लेकिन रंगशालाएँ क्यों नहीं? यह सवाल आज के सांस्कृतिक संकट की ओर इशारा करता है। उदारीकरण एवं बाज़ारवाद से उत्पन्न हुई व्यावसायिक मानसिकता ने हमारे उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों को बहुत हद तक प्रभावित किया है। रंगमंच की यह वर्तमान स्थिति इसी का परिणाम है।

दरअसल रंगमंच को ख़तरा सिनेमा से उतना नहीं जितना इसकी बाज़ारीकरण तथा व्यावसायिकरण नीति से है। सिद्धनाथ कुमार के शब्दों में ''सिनेमा ने रंगमंच को इसलिए नहीं मारा कि वह इससे अधिक शक्तिशाली है बल्कि इसलिए कि व्यवसाय बनकर कुछ विशेष वर्गों के लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हो रहा है। व्यावसायिक लाभ के लिए सिनेमा किस प्रकार विकृत जनरुचि की तृप्ति का प्रयत्न करता हुआ उसे और विकृत करता जा रहा है, इसे अपने सामाजिक जीवन में स्पष्टत: देखा जा सकता है'' स्पष्टत: कहें तो बुराई सिनेमा में नहीं बल्कि उसकी व्यावसायिक मानसिकता में है। ऐसी भी फिल्में आती हैं जो व्यावसायिक धरातल से ऊपर उठकर कला तथा संस्कृति के धरातल पर आने का प्रयास करती है लेकिन ऐसी फिल्में कहाँ चल पाती हैं? रंगमंच को इसी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। रंगमंच को मीडिया और फिल्मों से मुकाबला नहीं करना है बल्कि इसे एक स्वतंत्र सांस्कृतिक कला के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करना है। जीवन्त तथा सजीव कला रूप रंगमंच को जीवन का ज़रूरी घटक मानने वाले लोगों के लिए इसे जीवित बनाए रखना एक चुनौती है। आज सिनेमा और टी.वी. की शक्ति और सुलभता को देखते हुए यह चुनौती साधारण प्रतीत नहीं होती।

हिन्दी में आज मौलिक नाटक नही लिखे जा रहे। अगर है भी तो उनकी गिनती बहुत कम है लेकिन ऐसा नहीं है बल्कि समस्या यह है कि साहित्य की जितनी भी विधाएँ है जैसे कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण आदि इन सबमें नाटक सबसे मुश्किल विधा है। इसमें शब्दों का प्रयोग सिर्फ पढ़ने के लिए ही नहीं होता, बल्कि बोलने के लिए भी होता है दूसरे, नाटक की अपनी ज़रूरतें है तकनीकी और व्यावहारिक भी। नाटक लिखना ही अपने आप में एक चुनौती है।

आज जहां कहीं भी हिन्दी नाटक और रंगमंच पर सेमिनार, बहस या साक्षात्कार होता है वहां यही बात बार-बार सुनने को मिलती है कि हिन्दी में आज मौलिक नाटक नहीं लिखे जा रहे। अगर हैं भी तो उनकी गिनती बहुत कम है लेकिन ऐसा नहीं है बल्कि समस्या यह है कि साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं जैसे कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण आदि इन सबमें नाटक सबसे मुश्किल विधा है। इसमें शब्दों का प्रयोग सिर्फ पढ़ने के लिए ही नहीं होता, बल्कि बोलने के लिए भी होता है दूसरे, नाटक की अपनी ज़रूरते हैं तकनीकी और व्यावहारिक भी। नाटक लिखना ही अपने आप में एक चुनौती है। इसलिए बहुत कम नाटककार सामने आ रहे हैं। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि हम 20वीं शताब्दी के हिन्दी नाटक की बात नहीं कर रहे क्योंकि 20वीं शताब्दी में बहुत से महत्वपूर्ण नाटककार हुए हैं जिन्होंने अपने नाट्यालेखों द्वारा दायित्व का पूर्ण निर्वाह किया है- जैसे जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, सुरेन्द्र वर्मा, हमीदुल्ला आदि ने बेहतरीन आलेख द्वारा हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास किया। लेकिन हम आज 21वीं शती में नाट्य-आलेखों की बात करें तो निराशा ही हाथ लगेगी क्योंकि इक्का-दुक्का नाटककारों को छोड़कर कोई भी सशक्त नाटककार सामने नहीं आ रहा जिसका नाट्यालेख मंचन की समस्त सम्भावनाओं को पूरा कर सके। इस समस्या को गहराई से महसूस करते हुए जयदेव तनेजा अपने लेख 'इक्कीसवीं सदी के नए नाटककार' में कहते हैं, ''हिन्दी नाटककारों की प्रजाति खत्म हो चुकी है। नाटककार को रंगकर्म से 'अलविदा' कहा जा चुका है। मौलिक हिन्दी नाट्य लेखन का क्षेत्र बिल्कुल बंजर और उजाड़ पड़ा है। नए और अच्छे मंचन-योग्य नाटकों के अभाव के कारण ही रंगकर्मियों को पुराने एवं बहुमंचित मौलिक अथवा अन्य भाषाओं के देशी-विदेशी अनुवादों को बार-बार अभिमंचित करना पड़ता है'' इसलिए आज बाकायदा नाट्य लेखन के प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस की जा सकती है। हम देखते हैं कि विद्यालयों, विश्वविद्यालयों यहां तक कि सर्वोच्च संस्थान राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में भी आज तक इस विशेषज्ञता का कोई कार्यक्रम शुरू नहीं हो पाया है जबकि इसकी ज़रूरत को काफी शिद्दत से महसूस किया जा सकता है।

अच्छे, स्तरीय, मंचनीय, नाट्यालेखों के सृजन के लिए नाट्य निर्देशकों तथा नाटककारों के बीच नियमित संवाद की भी बहुत आवश्यकता है, जो फिलहाल हिन्दी नाटक और रंगमंच में न के बराबर है। इस तरह के संवाद से दोनों पक्षों को एक-दूसरे की मुश्किलों तथा ज़रूरतों को समझने में काफी सहायता मिलेगी।

दरअसल वर्तमान नाटक और रंगमंच के अस्तित्व को बनाए रखने का दायित्व केवल नाटककारों तथा नाट्य-निर्देशकों का ही नहीं बल्कि सरकार, व्यवस्था, बड़े उद्योग संस्थान, बुद्धिजीवी वर्ग तथा कला प्रेमी दर्शक वर्ग सबका है। इन सबको अपने-अपने ढंग से इस दिशा में सार्थक प्रत्यत्न करने होंगे। जब फिल्मों का आगमन हुआ तो लगा था कि हिन्दी रंगमंच ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच ही खत्म हो जाएगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ, फिल्में अपनी जगह चलती रहीं और रंगमंच भी सांस्कृतिक जीवन से किसी-न-किसी तरह से जुड़ा रहा और अब संचार क्रांति के कारण उत्पन्न हुई समस्याएँ इस समय विकट तो अवश्य हैं लेकिन नाटक और रंगमंच अपनी विशिष्टताओं के बलबूते दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करने में निकट भविष्य में सफल हो सकता है।

आज इक्कीसवीं शताब्दी में देखा जा सकता है कि अब छोटे बक्से के मशीनी मनोरंजन का आकर्षण थोड़ा कम हुआ है। पहले की अपेक्षा 'रंगनाट्य' की ओर मुड़ने वाले दर्शकों की संख्या में बढ़ोतरी हो रही है। इस संख्या की वृद्धि में शायद थोड़ा-बहुत समय और लगेगा। लेकिन नाटक और रंगमंच के इतिहास पर दृष्टि डालें तो लगेगा कि अगर इस संख्या में इज़ाफा नहीं भी हुआ तो भी अपनी जीवन्तता तथा सजीवता के बलबूते रंगमंचीय निरंतरता बनी रहेगी। रंगमंच में निहित सम्भावनाओं तथा इसके इतिहास को देखते हुए ऐसा मानना गलत न होगा कि तमाम चुनौतियों के बावजूद हिन्दी ही नहीं बल्कि पूरा भारतीय नाटक और रंगमंच, भारतीय सांस्कृतिक जीवन में केवल इतिहास के रूप में नहीं बल्कि जीवन्त वर्तमान के रूप में अपने अस्तित्व का अहसास दिलाता रहेगा।

संदर्भ : सिद्धनाथ कुमार, नाटकालोचन के सिद्धान्त, पृ. 20, वही, पृ. 21 / जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, पृ. 271

बे रंगमंच

मीनाक्षी तिवारी

रंगकर्म का उद्देश्य कभी पैसा या मुनाफ़ा कमाना नहीं रहा। रंगकर्मी सामाजिक सरोकारों से जुड़े संदेशों के वाहक के रूप में ही काम करते रहे हैं, पर पिछले कुछ सालों में जिस तरह से थियेटर का बाज़ारीकरण हुआ है उसका सबसे ज़्यादा नुकसान रंगकर्मियों को ही उठाना पड़ा है।

भारतीय नाट्यकला का इतिहास हज़ारों साल पुराना माना जाता है। समय के चक्र के साथ नाट्यकला और रंगमंच परिपक्व और प्रभावशाली होते गए। पर साथ ही रंगमंच की सफलता के पीछे काम कर रहे हज़ारों रंगकर्मियों की समस्याओं में भी इज़ाफ़ा होता गया। आज हाल यह है कि रंगकर्मियों के मुट्ठी भर सफल समूहों को ही सभी का प्रतिनिधि मानकर बाकियों की परेशानियों से मुंह मोड़ा जा रहा है।

सतीश मुख्तलिफ़ पिछले 15 सालों से रंगमंच से जुड़े हैं। काफी समय से दिल्ली में जुंबिश आर्ट्स नाम का समूह बनाकर नाटक कर रहे हैं। इनका नाटक 'एकलव्य उवाच' काफी चर्चित भी रहा है। लेकिन इसके बावजूद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के शोधार्थी सतीश के किसी नाटक का मंचन दिल्ली में थियेटर का गढ़ कहे जाने वाले मंडी हाउस में नहीं हुआ। क्यों? सतीश बताते हैं, 'ये तो सभी जानते हैं कि थियेटर में पैसा नहीं है। लोग इसे अपने जुनून की वजह से ही कर पाते हैं। ऐसे में यदि नाटक के मंचन के लिए किसी ऑडिटोरियम को 30-50 हज़ार रुपये किराये में देने पड़ें तो हम जैसे छोटे ग्रुप के लिए ये कैसे संभव है? हम यूनिवर्सिटी कैंपस में चंदा लेकर नाटक कर सकते हैं पर चंदे से मंडी हाउस पहुंचना मुमकिन नहीं है। शो करना तो दूसरी बात है, हमारे पास रिहर्सल करने की भी जगह नहीं है। मैं अपनी स्कॉलरशिप से मिले पैसों से थियेटर कर रहा हूँ।'

सतीश दिल्ली के ऑडिटोरियम के बढ़ते किराये से परेशान होने वालों में अकेले नहीं हैं। दिल्ली के चर्चित 'बहुरूप' थियेटर ग्रुप से लंबे समय से जुड़े हादी सरमादी भी सतीश की बात से इत्तफ़ाक रखते हैं। हादी बताते हैं, 'शौकिया तौर पर नाटक करने वाले किसी ग्रुप का तो मंडी हाउस पहुंच पाना मुमकिन ही नहीं है। अगर हम बहुरूप की ही बात करें तो हमने स्वतंत्र रूप से लगभग तीन साल से मंडी हाउस में कोई नाटक नहीं किया है। किसी महोत्सव के चलते ही हमारे नाटक वहाँ हुए हैं, वजह सिर्फ वहाँ के ऑडिटोरियमों का आसमान छूता किराया है। कुछ सालों पहले तक जब किराया 10 से 15 हज़ार रुपये के बीच होता था तब हम किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाते थे पर 50 हज़ार रुपये देना हमारे बस की बात नहीं है। बहुरूप अपने नाटकों में टिकट नहीं रखता है, हमारे लिए ये आमदनी का ज़रिया नहीं है।'

रंगमंच को अभिनय की पाठशाला माना जाता है। हर साल देश में रंगमंच के कई आयोजन होते हैं जहाँ देश के कई हिस्सों से रंग समूह आकर अपने नाटकों का प्रदर्शन करते हैं, सम्मान भी दिए जाते हैं। लेकिन देश की राजधानी में रंगमंच का गढ़ माने जाने वाले मंडी हाउस और बाकी ऑडिटोरियमों में किसी रंग समूह के लिए अपने नाटक का प्रदर्शन करके जनता के बीच पहुँच पाना इतना आसान नहीं हैं। कला में अर्थ यानी धन के बढ़ते प्रभुत्व ने रंगकर्मियों और दर्शकों

के बीच एक खाई खड़ी कर दी है। अगर शुरुआत से देखा जाए तो रंगकर्म का उद्देश्य कभी पैसा या मुनाफ़ा कमाना नहीं रहा। रंगकर्मी सामाजिक सरोकारों से जुड़े संदेशों के वाहक के रूप में ही काम करते रहे हैं, पर पिछले कुछ सालों में जिस तरह से थियेटर का बाज़ारीकरण हुआ है उसका सबसे ज़्यादा नुकसान रंगकर्मियों को ही उठाना पड़ा है।

ग़ौरतलब है कि मंडी हाउस के प्रसिद्ध ऑडिटोरियमों में किराये की रकम काफी ज़्यादा है, जिसके चलते रंगकर्मियों के एक बहुत बड़े वर्ग का दिल्ली के नाट्य प्रेमी दर्शकों से नाता टूट-सा गया है। लिटिल थियेटर ग्रुप (एलटीजी) हो या श्री राम सेंटर, सभी जगह किराये की न्यूनतम राशि 15 से 20 हज़ार रुपये है, जिसे बिना किसी बाहरी आर्थिक सहायता के वहन करना इन समूहों के लिए संभव नहीं है।

पर क्या इन ऑडिटोरियमों के बढ़ते किरायों के कारण वहां नाटकों का मंचन होना बंद हो गया है? 'नहीं,' बहुरूप से जुड़े जेएनयू के एक छात्र चंद्रभान बताते हैं। वे कहते हैं 'ऐसा नहीं है कि वहाँ नाटक नहीं हो रहे हैं। ऐसे कई थियेटर समूह हैं जिनके पास अच्छा-ख़ासा पैसा है और वे ख़ास तरह के दर्शकों के लिए नाटक कर रहे हैं। ऐसे दर्शक जिनके लिए थियेटर देखना स्टेटस सिंबल है। वे ऐसे हल्के-फुल्के विषयों या अंग्रेजी में नाटक करते हैं जिसे कुछ लोग पसंद करते हैं। वे ऐसे हल्के-फुल्के विषयों या अंग्रेजी में नाटक करते हैं जिसे कुछ लोग पसंद करते हैं। टिकट लेकर देखने आते हैं और फिर कुछ समूहों के पास स्पॉन्सर भी हैं। 'तब क्या इन समूहों की प्रस्तुति को रंगकर्म नही माना जा सकता? चंद्रभान इस तरह के नाटक करके धन कमाने को गलत नहीं मानते। उनका मानना है, 'अभिनय या ड्रामा का प्रशिक्षण लिए व्यक्ति के पास आजीविका कमाने के लिए नाटक करने के अलावा और कोई साधन नहीं होता, ऐसे में वे क्या करें? तो अगर किसी भी तरह का नाटक करना उसको आमदनी देता है तो मुझे नहीं लगता कि इसमें कुछ बुरा है।''

चंद्रभान की बात हादी सरमादी आगे बढ़ाते हैं, ''देखिए, जब हम कोई अच्छा संगीत सुनते हैं, कोई अच्छी कला देखते हैं तो हमारे दिमाग में कुछ तब्दीलियां आती हैं और यही उस कला का असर होता है। तो अगर कोई कला ये असर नहीं डालती तो कहीं तो कुछ गलत है। यहाँ लोगों के पास पैसा तो है पर कहने को कुछ नहीं है। वे कुछ पुराने नाटकों को ही मुंबई के किसी बड़े अभिनेता को बुलवाकर करते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं। मैं ये मानता हूँ कि थियेटर एक तरह का पॉलिटिकल स्टैंड है। जितनी समस्याएं सामाजिक या राजनीतिक नाटक करने वालों को पेश आती हैं, बाकी किसी को नहीं होतीं और कहीं न कहीं ये हुक्मरानों की गलती है।' सतीश का अनुभव भी कुछ यही कहता है, 'थियेटर को केवल मनोरंजन का माध्यम मान लिया गया है। ऐसा सोच लिया गया है कि ये एंटरटेनमेंट से ज़्यादा कुछ नहीं है। ऑडियंस भी यही चाहती है कि कुछ ऐसा देखा जाए जो सोचने पर मजबूर न करे। हम सामाजिक सरोकारों से जुडे मुद्दों पर नाटक करते हैं। तो हमारे लिए इस पैमाने पर खरा उतर पाना संभव नहीं है। एक रंग महोत्सवों का ही सहारा है पर वहां भी आकर नाटक के थीम को देखकर ही नाटक की अनुमति मिलती है। आपके नाटक का थीम

छोटे शहरों की ओर रुख करे थियेटर

मैं ऐसा मानता हूं कि दिल्ली महानगर को किसी नाट्य महोत्सव की ज़रूरत नहीं है। चाहे वो भारत रंग महोत्सव हो या महिंद्रा फेस्टिवल। सरकारी सहयोग से होने वाले सभी नाट्य महोत्सव हमेशा छोटे शहरों में होने चाहिए। इससे छोटे शहरों के रंगकर्मियों को देश के सर्वश्रेष्ठ रंगमंच को देखने का मौका मिलेगा और उस शहर की जनता थियेटर करना शुरू करेगी। विश्व में कहीं भी देख लीजिए थियेटर के जितने बड़े महोत्सव हैं वे हर साल अलग-अलग शहरों में आयोजित होते हैं। हम अपने सभी बड़े महोत्सव महानगरों में आयोजित करते हैं और खुद ही अपनी पीठ थपथपा लेते हैं। इन महोत्सवों को एक भी नया दर्शक नहीं मिलता और न ही इससे थियेटर की सेहत पर कोई प्रभाव पड़ता है। छोटे शहरों में थियेटर को प्रोत्साहित करने की ज़रूरत है।

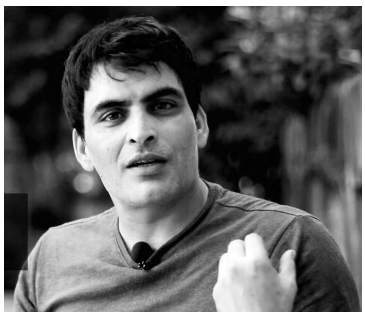

दूसरी समस्या है कि हमारे पास राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) जैसे कोई अन्य राष्ट्रीय प्रशिक्षण संस्थान मौजूद ही नहीं हैं। यह सवाल आज भी अनुत्तरित है कि जिन रंगकर्मियों को यहां प्रवेश नहीं मिल पाता वे क्या करें। मुझे ऐसा लगता है कि जिन रंगकर्मियों को एनएसडी आने का अवसर नहीं मिल पाता उनके लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि अगर वे नियमित रंगमंच करते हैं तो उन्हें साल में एक निश्चित राशि अनुदान के रूप में दी जाए, किसी अनुदान का आधार इसे न बनाया जाए कि वह रंगकर्मी एनएसडी से प्रशिक्षित है या नहीं। उनके काम को ही अनुदान का आधार बनाया जाना चाहिए।

रंगमंच में अभ्यास बहुत मायने रखता है। आज कई महानगरों में रंगकर्मियों के पास पूर्वाभ्यास की कोई जगह नहीं है और अगर जगह है तो उसका खर्च भी बहुत है। सरकारी स्कूल हर जगह हैं तो सरकार क्यों न ये प्रावधान करे कि शाम के समय इन स्कूलों का कोई हॉल या बड़ा कमरा नाट्यदलों को अभ्यास के लिए दे। सरकार को थियेटर को ऐसी बुनियादी सुविधाएं देनी चाहिए तभी थियेटर आगे बढ़ेगा। अनुदान या पुरस्कार का उद्देश्य भी प्रोत्साहन देना ही होता है पर आप किसी को बुढ़ापे में पुरस्कार दे रहे हैं तो इसका कोई मतलब नहीं है। आम तौर पर जिन रंगकर्मियों को अवॉर्ड मिलता है, थियेटर उनके जीवन से जा चुका होता है। जब आपके जीवन में, आपके खून में, दिनचर्या में थियेटर बस रहा है, आप सबसे ज्यादा काम कर रहे हैं, आपको उसी वक्त सहयोग और सम्मान की ज़रूरत रहती है। अगर उस वक्त रंगकर्मियों को प्रोत्साहित किया जाए तो आप देखिएगा कि एक साल में ही वह अपने काम से देश का नाम रोशन कर देगा। आप उसे तब पूछते हैं जब वह खत्म हो चुका होता है, जब उसके पास नया कुछ रचने की ऊर्जा और साहस नहीं होता। **-मानव कौल, रंगकर्मी-फिल्म अभिनेता**

(समकालीन रंगमंच पत्रिका में छपे लेख से साभार)

वहाँ की समिति में बैठे लोगों की मानसिकता के अनुसार होना चाहिए. कुछ समय पहले मैंने देश के एक बड़े रंग महोत्सव में आवेदन किया था। यह नाटक जातिवाद पर आधारित था। ज़ाहिर है मैं वहां नहीं पहुंच पाया।'

यहां ध्यान रखने वाली बात यह भी है कि केंद्र सरकार की ओर से हर साल कुछ निश्चित राशि रंगकर्मियों को अनुदान के रूप में दी जाती है। इस पर सतीश बताते हैं, 'इसके लिए आपके रंग समूह को रजिस्टर करवाना पड़ता है जो देश में होने वाले हर सरकारी काम की कागजी प्रक्रिया की तरह बहुत जटिल काम है। मैं मूल रूप से हरियाणा का हूं तो जब मैं दिल्ली में रजिस्ट्रेशन के लिए गया तब मुझे हरियाणा का मूल निवासी होने की बात कहकर वापस भेज दिया गया। पर जब मैं हरियाणा में अपने थियेटर ग्रुप को रजिस्टर करवाने पहुंचा तो उन्होंने कहा कि आप दस साल से राज्य से बाहर रह रहे हैं, दिल्ली में ही रंगकर्म करते हैं तो दिल्ली में ही रजिस्ट्रेशन होगा। इस तरह की मुश्किलों का कोई अंत नहीं है।'

राजेश चंद्र पिछले दो दशकों से रंगमंच से जुड़े हैं। वे नाटककार होने के साथ-साथ आलोचक भी हैं। साथ ही रंगमंच पर एक त्रैमासिक पत्रिका 'समकालीन रंगमंच' का प्रकाशन भी करते हैं। उनके अनुसार मंडी हाउस इलाके के ऑडिटोरियमों के किराये का बढ़ना एकदम अतार्किक है। ऐसा कहा जाता है कि सरकार द्वारा इस ऑडिटोरियमों के लिए ये ज़मीनें बहुत ही न्यूनतम मूल्य पर कला की उन्नति के लिए लीज़ पर दी गई थीं पर अब ये कॉरपोरेट हितों के लिए काम करते हुए रंगमंच और कला की ही जड़ों को खोखला कर रहे हैं। वे कहते हैं, 'ऑडिटोरियम मालिकों की सामाजिक जवाबदेही बनती है। वे बिना किसी क्राइटेरिया के किराया बढ़ा रहे हैं। अगर देखा जाए तो ये सत्ताधारियों की थियेटर को कंट्रोल करने की कोशिश है क्योंकि उनकी शह पर ही ऑडिटोरियम मालिक किराया बढ़ा सकते हैं। रंगमंच हमेशा से एक स्थायी प्रतिपक्ष के रूप में काम करता आया है। यहाँ दो धाराएं काम करती हैं, एक सत्तापक्षीय दूसरी विरोधी। सरकार की कुछ आघोषित नीतियां हैं। अगर आप उनके अनुसार चलेंगे तो शायद आपको कोई परेशानी न हो पर यदि आप सवाल खड़े करते हैं, खुशामद नहीं करते हैं तो आपके लिए ही मुश्किलें बढ़ेंगी।'

रंगमंच में हमेशा से दो धाराएं रही हैं। एक पूंजीवादी जिसके पास संसाधन हैं पर कहने को सार्थक कुछ नहीं है न ही उसका कोई असर होता है। वहीं दूसरी धारा के पास कोई संसाधन नहीं है बस कथ्य है और सामाजिक ज़िम्मेदारी है। हादी सरमादी कहते हैं, 'जब आपको किसी भी रूप में पैसा मिलेगा, चाहे वो अनुदान हो या स्पॉन्सर तब आप क्यों बेहतर करने की सोचेंगे? न ही फिर आप अपने साथियों की सोचेंगे जिनकी संसाधनों तक कोई पहुँच नहीं है।' राजेश भी यही कहते हैं, 'अनुदान के प्रलोभन में फंसते ही रंगकर्मी सरकार पर आश्रित होकर दर्शकों व अपने रंगकर्म के प्रति भी अपनी ज़िम्मेदारी भूल जाता है और उसका सारा ध्यान ज्यादा से ज्यादा अनुदान हासिल करने में लगा रहता है। उसके नाटकों की धार कम हो जाती है, उनका स्वर मंद हो जाता है और वे ऐसे नाटकों से पूरी तरह पीछा छुड़ा लेता है जो व्यवस्था पर सवाल उठाते हों।'

अनुदान की वर्तमान स्थिति बताते हुए राजेश कहते हैं, 'सरकारी या गैर-सरकारी अनुदान की

अनुदान की चुनौती

थियेटर में अनुदान की प्रक्रिया पर अभिनेता और रंगकर्मी मानव कौल कहते हैं, 'अनुदान की सबसे ज्यादा ज़रूरत उन्हें है जो युवा हैं, मेहनत से अपना पैसा लगाकर थियेटर कर रहे हैं। ऐसे कल्पनाशील युवा रंगकर्मी जहाँ कहीं भी काम कर रहे हैं, उनसे पूछा जाना चाहिए कि उन्हें किस तरह का अनुदान चाहिए, कुछ समय पहले एक नाटककार ने कश्मीर पर एक नाटक किया।

अब अगर वह वहां रहकर कुछ रिसर्च करना चाहता है तो क्या उसके लिए हमारे यहाँ कोई अनुदान है? यहां नाटककार से पूछा जाना चाहिए कि आपको किस तरह का अनुदान चाहिए। पर होता क्या है, आप उस नाटककार को यहँ समझने में लग जाते हैं कि यह कागज चाहिए, वह कागज चाहिए। मेरे जैसे लोगों के लिए यह प्रक्रिया तकलीफ़देह है, इसलिए मैंने कभी किसी अनुदान के लिए आवेदन नहीं किया। यहाँ अनुदान पाने की पूरी प्रक्रिया ऐसी है जो किसी सार्थक काम करने वाले रंगकर्मी को हतोत्साहित करती है।'

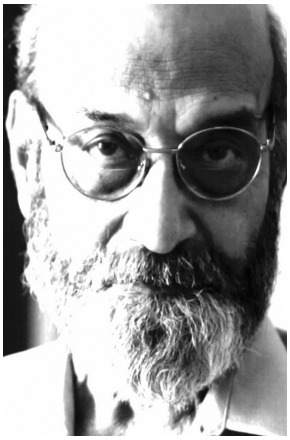

बैसाखियों पर खड़े होकर औने-पौने दल भी नगरों-महानगरों में नाट्योत्सव आयोजित कर रहे हैं। जिनमें 'बैंड-बाजा-बाराती' सभी हैं, सिवाय उस अवाम को छोड़कर जिसे लेकर दावेदारी की जाती है। अनुदान की लालसा ने नाटककार को 'मैनेजर' और नाटक को 'ब्रोशर एक्टिविटी' तक सीमित कर दिया है। ये नाट्योत्सव जनता के पैसों से जनता के नाम पर मध्यवर्ग की गुदगुदाहट का सामान बनकर रह गए हैं। भूख और रोटी का ज़िक्र भी यहां इस तरह होता है कि ये बेचैनी की जगह मनोरंजन का सबब बनकर रह जाते हैं। वे कहते हैं, 'इन सबकी प्रक्रिया में घुल पाना ही मुश्किल है। हम इस तरह की 'मैनेजरी' ही करते रहेंगे तो थियेटर कब करेंगे? जो सिर्फ बेहतर काम करना चाहता है उसके लिए बस परेशानियां ही परेशानियां हैं।'

राजेश की पत्रिका का एक अंक रंगमंच में अनुदान की स्थितियों पर ही केंद्रित था, जहां देश के विभिन्न वरिष्ठ रंगकर्मियों ने इस विषय पर अपना नज़रिया साझा किया। एक लेख में देश के प्रसिद्ध संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी अनुदान से रंगमंच पर पड़ने वाले प्रभाव की बात पर बाकियों से अलग राय रखते हुए कहते हैं, 'हमारे यहाँ मनोरंजन और प्रश्न की जो परंपरा थी वह मनोरंजन और प्रश्नवाचकता को लूंथकर चलती थी। पंडवानी में तीजनबाई को देखें तो वे कथा महाभारत की कह रही हैं पर कहते-कहते वे आसपास की ज़िंदगी-राजनीति पर टिप्पणी भी करती चलती हैं। अगर अनुदान से इस तरह की प्रश्नवाचकता पर कोई दृष्टिगत प्रभाव पड़ता है तो अनुदान की बंदिश उतनी नहीं है जितना स्वयं रंगदलों की अपनी कमज़ोरी है कि उन्होंने मान लिया है कि ऐसा करने से शायद अनुदान के लिए उनकी अनुकूलता बढ़ जाएगी।'

रंगकर्मियों की परेशानियों में ऑडिटोरियम के बढ़े किराये रिहर्सल के लिए उपयुक्त जगह न होना, नाटकों के मंचन से पहले ड्रामेटिक परफॉरमेंस ऐक्ट के तहत पुलिस से अनुमति लेना, प्रशिक्षण संस्थानों की कमी, नाट्य विद्यालय से निकलने के बाद आजीविका के स्त्रोत जैसी तमाम दिक्कतें शामिल हैं पर इनका कोई समाधान नहीं ढूंढा गया है। सरकार के स्तर पर बात करें तो राष्ट्रीय बजट का नाममात्र अंश संस्कृति के हिस्से आता है।

प्रख्यात रंगकर्मी रामगोपाल बजाज एक लेख में कहते हैं, 'संस्कृति के हिस्से में राष्ट्रीय बजट का एक प्रतिशत भी नहीं आता। जिस उद्देश्य से सरकार द्वारा सस्ती ज़मीन देकर कमानी और श्री राम सेंटर जैसे ऑडिटोरियम बनाए गए, वह आज पूरा नहीं हो रहा है। इनका किराया बढ़कर 80-90 हज़ार रुपये तक हो गया है। पर न सरकार टोकती है न लोग। ये लोग इन ऑडिटोरियमों के मालिक बने बैठे हैं, ये ट्रस्ट के तहत बनाए गए थे। ये पैसा जमा होकर कहां जा रहा है, इसकी तहकीकात होनी चाहिए, आज मोदी जी कह रहे हैं कि हम देश में इंफ्रास्ट्रक्चर खड़ा करेंगे तो क्या उस इंफ्रास्ट्रक्चर में सब वाणिज्य और सिनेमा के लिए ही होगा? मॉल ही बनेंगे? फिर संस्कृति का क्या होगा? संस्कृति मंत्रालय को मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय के अंतर्गत होना चाहिए क्योंकि संस्कृति शिक्षण और नाट्य-कर्म मानव विकास का हिस्सा हैं।'

रंगकर्म के लिए बनाई गई संस्थाओं का भी इन समस्याओं के प्रति गंभीर न होना इसका एक बड़ा कारण है। सतीश और राजेश तो यही मानते हैं। सतीश कहते हैं, 'बड़ी-बड़ी कुर्सियों पर बैठे लोग जब तक गंभीर नहीं होंगे तब तक कोई बदलाव नहीं हो सकता। और बदलाव को लेकर अगर कोई बात उनके कानों तक पहुँचती भी है तो बदलाव के नाम पर अगले रंग महोत्सव का डेकोरेशन बदल देते हैं! उनके लिए यही बदलाव है। असल में वे लोग इस क्षेत्र के हैं ही नहीं इसलिए उनकी थियेटर में कोई दिलचस्पी ही नहीं है।' राजेश बताते हैं, 'कुछ समय पहले दिल्ली सरकार की साहित्य कला परिषद ने एक रंग महोत्सव में दो साल तक एक बड़े निर्देशक द्वारा चार करोड़ रुपये के दो नाटक करवाए। निर्देशक के चुनाव में कोई पारदर्शिता नहीं बरती गई और नाटकों में भी कोई नवीनता नहीं थी। बस पुराने नाटकों को भव्यता के साथ दिखाया गया। इसका काफी विरोध भी हुआ था। जानकारों की मानें तो इस तरह के रंग महोत्सव इन संस्थानों को मिले बजट की अधिकांश राशि खपाने के लिए किए जाते हैं। दिल्ली सहित देश में बड़ी तादाद ऐसे रंगकर्मियों की है जिनके पास न नाटकों की रिहर्सल के लिए जगह है, न प्रदर्शन के लिए कोई उपयुक्त और सस्ती जगह। पर इससे किसे सरोकार है? बिना खुशामद के सिर्फ अपना काम करने वाले के लिए तो ऐसी व्यवस्था है कि वह संसाधनों तक पहुंच ही न सके। आपके पास दो विकल्प हैं- या तो बाज़ार के हिसाब से चलिए या सरकार के संस्थानों के हिसाब से।'

ये सब परेशानियाँ लंबे समय से थियेटरकर्मियों के सामने हैं पर क्या कभी उन्होंने इसके खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठाई? सतीश के अनुसार रंगकर्मियों का एकजुट होना मुश्किल है। वो क्यों शिकायत करेगा? गैर-राजनीतिक या हल्के-फुल्के नाटक करने वालों को कभी परेशानी नहीं होती। जो ग्रुप किसी रंग महोत्सव में शामिल हो चुका है तो उसे वहां न पहुंचने वाले की चिंता क्यों होगी?' राजेश का कहना है कि सबसे पहले तो सरकार द्वारा कोई सांस्कृतिक नीति बनाई जानी चाहिए। साथ ही संसाधनों का विकेंद्रीकरण करना भी ज़रूरी है पर इसके लिए मंच पर सभी रंगकर्मियों का साथ आना सबसे बड़ी शर्त है जो पूरी नहीं होती।

हादी सरमादी का भी ऐसा ही मानना है। वे कहते हैं, 'सब जानते हैं कि बिना एकजुट हुए कोई परिवर्तन नहीं हो सकता पर यहां तो हाल ये है कि दिल टूटने पर दिल के इतने टुकड़े नहीं होते होंगे जितने यहां रंगकर्मियों के बीच हो गए हैं। यहां हाल कम्युनिस्ट पार्टी जैसे हैं। हर समूह समझता है कि इंकलाब आएगा तो सिर्फ हमारे झंडे के तले आएगा, अगर दूसरे के झंडे तले आया तो असली इंकलाब वो नहीं होगा। कुछ लोग मठाधीश बनने की कोशिश करते हैं। ऐसे में कैसे किसी एक मुद्दे को लेकर एकमत या फिर एकजुट होंगे, कैसे कोई मुहिम छेड़ी जाएगी?' -('तहलका' से साभार)

नाट्य परिधान

कला अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली माध्यम है और पात्र की वेशभूषा भी उसमें प्राण का आधार करती है। दर्शक और कलाकार के साक्षात्कार में पहला संवाद तो वस्त्र परिधान ही बोलता है तथा सम्पूर्ण नाटक में उसकी मूक-भाषा एक संगीत की तरह प्रवाहित होती रहती है। कलाकृति की सफलता के लिए इस सुर की संरचना पहली आवयकता है। नाट्य शास्त्र के पर्याय भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र में वेशभूषा एवं रूपसज्जा को प्रस्तुति का एक अभिन्न अंग माना है और इसे उनकी अभिनय के आहार्य रूप में सम्मिलित किया है। निर्देशक की निपुणता और नाटक की कथा-वस्तु पर उसकी पकड़ का परिचय दर्शक को पात्रों की वेशभूषा और रूपसज्जा से मिल जाता है। कवि, लेखक की भावना की कल्पना लोक से विदा कराकर हौले से रंगमंच के फलक पर लाखों दर्शक के समक्ष उतार देने का जोखिम भरा काम निर्देशक वस्त्र-परिधान और रूपसज्जा के सहारे ही करता है जैसे भगीरथ की अथक तपस्या से देवनदी मंदाकिनी धरती पर उतर आयी हो। मछुआरे के जाल और शिकारी के बाण की तरह ही निर्देशक इनका उपयोग करते हैं।

वेशभूषा या परिधान की पहली आवश्यकता है उनकी कथा वस्तु के अनुरूप होना। यहाँ ध्यान रखने की बात है नाटक जीवन नहीं है - जीवन जैसा लगता है। यहाँ तक किसी के जीये क्षण की नकल उतारते हैं, वास्तविकता पैदा करने के लिये- वास्तव में ये जीते नहीं है। यदि कथा-वस्तु रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की हो तो ऐसा ही उद्‌भासित होना चाहिये। वास्तव में उसके लिए आम जिन्दगी का एहसास जरूरी है। हकीकत तो यह है कि रंगमंच का जीवन ही एक अलग किस्म का होता है। उसका अपना यथार्थ अपना व्याकरण है, जिसके सहारे यह अपनी सीमित दुनिया (रंगमंच) पर अवतरित होता है, जो यथार्थ न होकर यथार्थ का सुखद भ्रम पैदा करता है। अंग्रेजी में इस स्थिति को More than life से व्यक्त किया जाता है। यहाँ यथार्थ को उतारने के लिए वेशभूषा और रूपसज्जा में थोड़ी अतिरंजना थोड़ी अतिशयोक्ति आवश्यक है। यही नियम मंचविन्यास, दृश्य हावभाव और वाणी पर भी लागू होता है।

कथावस्तु के अनुरूप- प्रभाव पैदा करने के लिये निर्देशक को कभी-कभी काफी परिश्रम करना होता है। इस दिशा में कला-दक्षता हासिल करने के लिए उसे सतत प्रयत्नशीलता की ज़रूरत होती है। ऐसी किसी संस्था में सहयोगी बनकर आरंभ में अनुभव प्राप्त करना अच्छा होता है। कथानक यदि ऐतिहासिक, क्षेत्रीय हो तो तदनुरूप निर्देशक को सबंधित साहित्य, स्थापत्य, गुफाओं में उकेरी चित्रकला और यहाँ की परम्पराओं के अध्ययन से पहनाया, केश-विन्यास, हाव-भाव व्यक्त करते समय वस्त्रों आदि के उपयोग का तरीका तथा वहाँ के प्रतीकों आदि संक्षिप्त एवं प्रभावी उपयोग करना पड़ता है। अपने साधारण ज्ञान में उसे बराबर वृद्धि करनी पड़ती है और सावधानी भी रखनी पड़ती है क्योंकि हमारे देश में वस्त्र पहनने के तरीके, रीति-रिवाज आदि में काफी भिन्नता है। एक ही साड़ी बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र में अगल-अगल ढंग से बांधी जाती है। दुपट्टा रखने का तरीका, लहंगा-चुन्नी का प्रकार, पगड़ी बांधने की भिन्नता आदि काफी बारीक चीज़ें ध्यान में रखने की ज़रूरत है। कहीं पंजाब में चित्रण में राजस्थान की पगड़ी पहना दी गई तो दर्शक की बेचैनी बढ़ जायेगी और सारी प्रस्तुति एक भौंड़ी शक्ल ले लगी।

अभिनेता वेशभूषा के अनुरूप बदल जाता है

यदि अभिनेता का शरीर पात्र के शरीर से मोटा रहता है तो उसे लम्बे धारीदार या चुस्त कपड़े से कुछ दुबला दिखाया जा सकता है। गहरे रंग के कपड़े प्रयोग से व्यक्ति पतला दिखता है। मोटे व्यक्ति को ढीला-ढाला कपड़ा और मोटा दिखा देता है। आड़ी-धारी वाले कपड़े से भी आदमी मोटा दिखता है। थोड़ी बहुत इन सावधानियों की मदद से अभिनेता की शरीरिक कमजोरियों को छुपाया या ज़रूरत के अनुरूप उभारा भी जा सकता है।

गहरी और लम्बी धारी वाले कपड़े के प्रयोग से पात्र की इच्छा शक्ति की मजबूती का भान होता है। कभी दृश्य में पात्र को दृश्य पर हावी और कहीं दृश्य को पात्र पर हावी दिखाने की ज़रूरत पड़ती है। आड़ी धारियों में लंबे स्तंभ के सहारे खड़ा अभिनेता और भी बौना दिखता है। इससे लगने लगता है सारा माहौल ही उस पर हावी हो गया है और वह उसके सामने अत्यंत ही असहाय और छोटा है। पीठ पर ढका हुआ कपड़ा साधारणत: चादर का ही काम देता है। पर जब अभिनेता उसके कोने को पकड़कर दोनों हाथों से फैलाता है तो उसे वह ज़्यादा बड़ा और भव्य दीखने में मदद करता है। उत्तरीय को अलग-अलग ढंग से हाथ में लेकर चलने से भिन्न-भिन्न भाव पैदा किये जा सकते हैं। कभी घबराहट में उसके कोने को लपेटना और खोलना, कभी क्षोभ सूचित करने के लिए उसे कंधे पर झटकना आदि पात्र के प्रदर्शित करने में मदद करते हैं

पायजामें भी अपनी थोड़ी बहुत बनावट की भिन्नता के साथ अलग-अलग क्षेत्र में पहने जाते हैं। धोती पहनने के तरीके भी अलग-अलग क्षेत्र में अपने ढंग के हैं। किसान की पोशाक पंडित वाली कभी नहीं होगी। स्वतंतत्रता से पूर्व का किसान आज के किसान से भिन्न दिखेगा। एक समृद्ध किसान एक गरीब किसान से भिन्न होगा। आदिवासी किसान का पहनावा (धोती, गमछा, केश विन्यास, बांसुरी) अलग किस्म का होगा। मिथिला के पुराने पुरुष पात्र के लिए पाग (पगड़ी) एक विशिष्ट पहचान है। आज भी मांगलिक अवसर पर लोग इस परम्परा का निर्वाह करते हैं।

शहरी गुण्डे, देहाती लठैत, चंबल के डाकू और पंजाब के खड़कुओं के वस्त्र और रूप सज्जा में काफी भिन्नता होगी। इस सम्बंध में अखबार, पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित होने वाले उनके सही चित्र कुछ मार्ग निर्देश कर सकते हैं। एक ही दृश्य में यदि मीरा और राधा को दिखाना होगा तो मीरा सफेद साड़ी, सीधा पहनावा, कंठीमाला, एकतारा लिये सन्यासिन जैसी होगी। वहीं राधा घाघरे, चोली और दुपट्टे में चपलता का प्रतीक होगी।

पात्र की चरित्रगत विशेषता का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिज्ञों की भी अपनी अलग-अलग पहचान होती है। राजीव गाँधी, विश्वनाथ प्रताप सिंह, चन्द्रशेखर, ज्योति बसु, एन. टी. रामाराव, फारुख अब्दुल्ला - इनके अलग-अलग प्रतीक होंगें। गौर करने की बात यह है कि इनके शस्त्र और रूपसज्जा में इतना अन्तर क्यों है। इस पर विचार करते समय उनका व्यक्तित्व उनकी क्षेत्रीयता, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि, मानसिक संरचना आदि सारी बातें विचार करने के लिए उभर कर सामने चली आती है। एक डिजाईनर को इन बातों का सवाल और एहसास तो होना ही चाहिए। यदि वस्त्र पहना कर अभ्यास कराया जाया तो शीघ्र उसके अभिनय में गुणात्मक सुधार स्पष्ट हो जाता है। कलाकार पात्र के चरित्र को अपने में महसूसने लगता है।

सफल निर्देशक को समान्यत: पात्र की उम्र उसकी शारीरिक विशेषता, मनोविज्ञान, व्यवसाय, शिक्षा, सामाजिक स्थिति, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि, समय (काल), प्रचलित वस्त्र, आर्थिक राजनैतिक पृष्ठभूमि, कला-क्षेत्रीय, मूर्तिकला, स्थापत्य, चित्रकला आदि की स्थिति तथा अन्य बहुत सारी ऐसी बातें का ध्यान रखना आवश्यक है।

कुछ व्यावहारिक बातों की चर्चा भी वहाँ ज़रूरी है- जैसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के नाटक के लिए। उस काल का परिधान, पहनने का ढंग, प्रचलित रंग, आभूषण, केश विन्यास, शिरोपरिधान, अस्त्र-शस्त्र का परिचालन तथा रखने का विस्तृत अध्ययन महत्त्वपूर्ण है - जो प्रस्तुति की सफलता तक पहुँचाने में सहायक होता है। अनावश्यक तड़क-भड़क और सस्ते विज्ञान की चित्रों की ओर भागने में बहुत वक्त जाया नहीं करना चाहिए। कुछ प्रतीकात्मक तत्व प्रस्तुति को सही अर्थ देने में सहायक होंगे। डिजाईनर इन सारी बातों को ध्यान रखते हुए उस खास अभिनेता एक पहुँचता है जिसे यह दृश्य निभाना होता है और वह नीचे की बातों का ख्याल करते हुए सभी में एक ताल-मेल बैठाने की कोशिश करता है।

-अभिनेता की शारीरिक विशेषताएँ, प्रकाश और दृश्य रचना से उनका सम्बन्ध, अन्य पात्रों के साथ अभिनेत कैसा जँचता है, नाटक के उस दृश्य का खास उद्देश्य।

गंभीर प्रकृति के लोग अधिकांशत: हल्के उदास रंग के वस्त्र पहनना ज़्यादा पसंद करते हैं। अनुशासन-प्रिय लोग जैसे-डाक्टर, वकील, इंजीनियर आदि सफेद, क्रीम रंग के कपड़ों में चुस्त-दुरुस्त दिखते है। यदि नाटक की शैली में प्रहसन का पुट हो तो उसके कपड़ों का चयन भी उसी के अनुरूप किया जा सकता है। जोकर की अद्‌भुत पोशाक दर्शकों में उसके हाव-भाव से हास्य-विनोद की हिलोरें पैदा कर देता है। इंसपेक्टर, फौज़ी अफसर का वस्त्र चुस्त-दुरुस्त और कलफ़दार होना चाहिए। स्थानीय भूगोल का जनरूचि पर प्रभाव का ज्ञान भी डिजाईनर की कला दक्षता निखारता है। भौगोलिक परिवेश के साथ वस्त्र परिधान का गहरा संबंध है। उष्ण जलवायु के लोगों का पहनावा समशीतोष्ण जलवायु के लोगों से काफी भिन्न होगा। साथ ही दोनों जगहों के लोगों के मनोविज्ञान में भी भारी अंतर दिखेगा।

राजस्थान के रेत, बालू, पांड़ी और शुष्क-भूमि की पृष्ठभूमि में वहाँ की जनरुचि रंग-बिरंगे वस्त्रों का चयन करती है। प्रकृति में हरे-भरे रंगों के अभाव को वे अपने रंग-बिरंगे वस्त्र, आभूषण से पूरा करते हैं। हिमाचल व कश्मीर की हरी-भरी वादियों के निवासी भूरा, कत्थई और स्लेटी रंग पसंद करते हैं। ठीक उसी तरह रंगों का भी अपना मनोविज्ञान है। नाटक से मूड के इसे जोड़ने की जरूरत होती है। गहरा लाल, नारंगी रंग में हत्या का दृश्य, शीतल नीले, आसमानी और हरे रंग पर दूसरा ही प्रभाव पैदा करते हैं। डिजाईनर की सारी खूबियों को सार्थक करने की ज़िम्मेदारी अभिनेता पर आ जाती है। कलाकार की निपुणता ही वस्त्र के चयन को सही अंजाम दे जाती है। अत: अभिनेता को भी वस्त्र के इस्तेमाल में निपुण होना चाहिए। ग्रामीण बाला के अभिनेता में साड़ी बांधने का ढंग, उसे कभी माथे पर कभी पीठ पर ओढने-झटकने का अंदाज़, बोलचाल, हाव-भाव में उसे आगे-पीछे करने का ढंग, लड़ाई के समय उसे कमर बांधने का जोश, लजाने के समय उसमें मुँह छिपाने का अंदाज़ यह तो कलाकार उस क्षेत्र विशेष में जाकर ही अपनी सुग्राह्यता से पकड़ सकता है और तभी एक सफल डिजाईनर की मेहनत प्रतिष्ठा पा सकता है।

परिधान का चुनाव करते समय रंगों के सामंजस्य का हमेशा ख्याल रखना चाहिये। परिधान के रंगों का समस्त प्रस्तुति के रंगों से ताल-मेल होना ही चाहिए, अन्यथा प्रस्तुति भौंड़ी और भद्दी शक्ल ले लेगी। सेट, फर्निचर, स्थितिवार प्रकाश परिवर्तन के रंगों को ध्यान में रखते हुए पात्रों के परिधान का चुनाव करना चाहिए। ताकि सौंदर्य का तारतम्य बना रहे।

प्रकाश योजना से वस्त्रों का मेच भी उतना ही आवश्यक है वरना सारी रंग-योजना ही बेकार हो जाती है। अत: वेशभूषा को प्रकाश योजना और मंच सज्जा से जोड़ रखना भी अति आवश्यक है अन्यथा आखिरी समय सब गड़-बड़ हो जाता है। वस्त्र की बुनावट का ख्याल करना भी उतना ही ज़रूरी है। आम जीवन में पहने जाने वाली बुनावट का प्रभाव पैदा करने के लिये रंगमंच पर बिल्कुल ही अलग किस्म की बुनावट वाले कपड़े का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसा प्रकाश योजना और मंच सज्जा को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। मंच के लिए साधारणत: खुरदरी, दानेदार बुनावटें चुनी जाती है क्योंकि वह एक तरह का त्रि-आयामी प्रभाव पैदा करती है। भारी कपड़ा लटकने पर प्रभावशाली दीखता है। सिलने पर उसके चुन्नटें ज्यादा साफ-सुथरी और अच्छी दीखती है।

रेशमी वस्त्र का प्रभाव पैदा करने के लिए यदि पात्र को सचमुच रेशम पहनाया जाय तो यह बहुत महंगा होगा साथ ही रेशम में चमक की वजह से वह प्रकाश परावर्तित भी करेगा और दर्शक को कपड़े को सही रंग नहीं दीखेगा। साथ ही उसके चमक पर ही दर्शक का ध्यान चला जायेगा और इस तरह अभिनेता के अभिनय से दूर हट जाता है। इस स्थिति से बचने के लिए रेशम का आभास पैदा करना ज़रूरी है रेशमी पहनना नहीं। विभिन्न प्रकार के सुती कपड़ों के प्रयोग से कुशल डिजाईनर इसे बखूबी निभाता है। ऐसे कपड़ों के लटकने का प्रभाव और चमक करीब-करीब रेशम जैसा ही होता है। उसी लिबास के लिये भी खुरदरे और भारी किस्म के सूती कपड़ों का प्रयोग किया जा सकता है। जिसका ऊनी जैसा ही असर पैदा होता है। डिजाईनर की प्रवृत्ति एक यायावर की होनी चाहिये। लोक परम्परा में प्रयुक्त होते वस्त्र परिधान और उसकी परंपरागत शैली का अध्ययन उसकी कल्पनाशीलता में नये आयाम जोड़ता है।

यह एक अलग किस्म का भी विकार भी है - जिसमें वस्त्र परिधान की महत्ता एकदम गौण करके भी अभिनय को प्रभावी बनाने का प्रयोग शुरू है। अभिनय को वेशभूषा की कैद से मुक्त करने का प्रयास कुछ कलाकारों द्वारा जारी है। एकल अभिनय के प्रभाव से तो बहुत आदमी परिचित ही हैं। संभव है अभिनय वेशभूषा की कारा से आज़ाद हो भी जाय पर वेशभूषा के साथ वाले अभिनय की महत्ता आम दर्शकों के बीच रत्ती भर नहीं कमेगी। (साभार - नाट्य भारती)

संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, सिनेमा, फोटोग्राफी सहित अनेक कला विधाओं में राजधानियों, महानगरों, छोटे शहरों-कस्बों और गाँव-गलियों में हो रहा सृजन जिज्ञासा, कौतुहल और प्रश्नाकुलता की नई कौंध जगाता नए ज़माने से नया रिश्ता जोड़ रहा है। सरकारी और गैरसरकारी प्रयत्नों में संस्कृतिकर्म एक अहम जगह बनाता जा रहा है। लेकिन इन तमाम रचनात्मक करवटों को हमारे समय का मीडिया ख़ासकर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने आज जिस चलताऊ ढंग से देखना-समझना शुरू किया है, उस पर अफ़सोस ही किया जा सकता है।

विनय उपाध्याय

विशेषकर हिन्दी प्रदेशों में जहाँ कलात्मक संवेदनों के आसपास होती रही गतिविधियों की बेसाख्ता बढ़ती तादाद तथा कलाकारों का नित नए आयाम धरता उत्साही सृजन इस बात की ताईद करते हैं कि सांस्कृतिक समृद्धि का एक बड़ा और नया क्षितिज तैयार हो चुका है। विरासत के साथ जुड़ी परंपरा में आधुनिकता के नए पहलू जुड़ रहे हैं। संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, सिनेमा, फोटोग्राफी सहित अनेक कला विधाओं में राजधानियों, महानगरों, छोटे शहरों-कस्बों और गाँव-गलियों में हो रहा सृजन जिज्ञासा, कौतुहल और प्रश्नाकुलता की नई कौंध जगाता नए ज़माने से नया रिश्ता जोड़ रहा है। सरकारी और गैरसरकारी प्रयत्नों में संस्कृतिकर्म एक अहम जगह बनाता जा रहा है। लेकिन इन तमाम रचनात्मक करवटों को हमारे समय का मीडिया ख़ासकर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने आज जिस चलताऊ ढंग से देखना-समझना शुरू किया है, उस पर अफ़सोस ही किया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि लकीरें शुरू से ही फीकी रहीं, आज़ादी के बाद उभरा हिन्दी पत्रकारिता का परिवेश इतना उदासीन या उपेक्षा से भरा नहीं था। धर्मयुग, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाओं और नई दुनिया, राजस्थान पत्रिका, हिन्दुस्तान, जनसत्ता जैसे अखबारों के अलावा मझौले कद की अनेक सांस्कृतिक पत्रिकाओं ने कला की हिलोर को अपने अंक में आत्मीयता से थामा लेकिन ख़रामा-ख़रामा यह प्राथमिकता अपनी आँच खोती जा रही है। फिर भी मुख्य धारा से कला लेखन की उखड़ती सांसों के बावजूद उसकी गरज जनता के बीच बनी हुई है। इसलिए कि कला और जीवन के अटूट रिश्तों की आहटों से हमारा समय और समाज कभी विमुख नहीं होना चाहता। कभी-कभार कला लेखन एक अलग बात है लेकिन नियमित कलाओं पर चिंतन और लेखन बिल्कुल अलग-अलग उद्यम हैं। हिन्दी में अज्ञेय से लेकर असद ज़ैदी तक प्रयाग शुक्ल, विनोद भारद्वाज से लेकर वर्षादास, मंजरी सिन्हा, ज्योतिष जोशी आदि तक इस तरह के नियमित और गंभीर लेखन की खोज की जा सकती है। लेकिन फिर भी कला लेखन पर ही एकाग्र और आश्रित होकर जीने का फैसला प्रायः कम लोग कर पाए हैं। यह काम बहुत बड़े समर्पण की मांग करता है। इसके लिए बड़ी तैयारी चाहिए। पढ़ने, लिखने, सुनने और देखने के संस्कार चाहिए। कला और जीवन से अन्तर्क्रिया, धीरज और उत्साह चाहिए। प्रश्नाकुलता चाहिए। संवाद, संसाधन और परिवेश भी जहाँ से कला के सच को परखने का प्रकाश फूटता है। लेकिन दुर्भाग्य से इस सबको हासिल करने के लिए हिन्दी के जनपद में बहुत कंजूस फ़िक्रें रही हैं। यह कंजूसी कला लेखकों से लेकर कला-संस्कृति की उन्नायक संस्थाओं और मीडिया तक व्याप्त हैं। आधे-अधूरे मन से हो रही कोशिशों ने एक बेहतर संभावना को उसके हाल पर ही छोड़ रखा है।

म.प्र. का संदर्भ लें तो मेरी अपनी करीब तीन दशक की सक्रिय सांस्कृतिक पत्रकारिता की अवधि में कुल तीन-चार अवसर ऐसे आए हैं जब कला लेखक या सांस्कृतिक पत्रकारों के लिए 'संवाद' की जगह बनी। भारत भवन ने ही करीब दो दशक पूर्व कला बोध कार्यशाला आयोजित की थी। ग्वालियर में नाग बोडस ने संगीत आस्वादन पर तीन दिनों का एक विमर्श किया था। एक बार कला परिषद् ने भोपाल में नाट्य समीक्षा पर परिचर्चा और कार्यशाला की थी और ललित कला अकादेमी, दिल्ली ने भोपाल स्थित भारत भवन में कला लेखन पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित किया था। लेकिन ये उपक्रम भी प्रायः आनन-फानन में हुए।

चित्रकला और सिनेमा पर लगभग चार दशकों से नियमित अपनी कलम चला रहे कला समीक्षक विनोद भारद्वाज अनुभव साझा करते हुए बताते हैं कि दरअसल कला लेखन हो या विश्व सिनेमा पर विश्लेषणात्मक लेखन, इन सब चीज़ों के लिए काफी तैयारी चाहिए। लेखक के पास एक बहुत बड़ी निजी लाइब्रेरी होनी चाहिए। समकालीन भारतीय कला पर भी लिखना हो तो दुनिया भर के संग्रहालयों का सीधा अनुभव होना चाहिए। रेनेसां कला के रंग किताबों से बहुत कम समझ में आते हैं। राफेल्लों या तित्सियानों के लाल रंग को समझना हो तो रोम, फ्लोरेंस या वेनिस में महीनों भटकना पड़ेगा। मातीस का लाल रंग देखे-समझे बिना आधुनिक भारतीय कलाकारों के रंगों की दुनिया में भी आप प्रामाणिक रूप से नहीं जा पाएंगे। यानी आपको खूब देखने-पढ़ने-घूमने की सुविधा चाहिए।

यह सही है कि कोई लेखक सिर्फ सुविधाओं के सहारे ही काम नहीं कर सकता। लेकिन कविता-कहानी लिखने और कला, संगीत, सिनेमा पर गंभीर लेखन में फ़र्क है। इस तरह के लेखन में कुछ हासिल करना हो तो एक लंबी लड़ाई में हिस्सा लेना पड़ता है। आज अनेक कलाकारों को लेखकों-समीक्षकों की ज़रूरत भी बहुत कम रह गई है। बहुत से हिन्दी, अंग्रेजी अखबारों के युवा रिपोर्टर पूछ-पूछ कर लिखते हैं। इस तरह का लेखन कलाकारों और कला बाज़ार सभी के लिए सुविधाजनक है।

प्रयाग शुक्ल और विनोद भारद्वाज जैसे कला आलोचक अपने को सौभाग्यशाली बताते हुए 'दिनमान' के उन दिनों की याद करते हैं जब उन्हें अज्ञेय और रघुवीर सहाय जैसे मूर्धन्य मनीषियों के संपादन-काल में नौसिखिए उपसंपादक के बतौर काम करने का अवसर मिला। तब आज जैसी सुविधाएँ-संसाधन भले ही बहुतायत में न थे लेकिन गंभीर सांस्कृतिक लेखन के अनेक अवसर मिलते थे। संपादक अपनी टीम पर बहुत भरोसा करते थे। इस तरह का विश्वास सुविधाओं की कमी का असर नहीं होने देता था। प्रयाग और भारद्वाज या उनकी तरह कुछ और भाग्यवानों की मिसाल छोड़ दें तो आज बहुतायत में कला लेखन को लेकर दरिद्रता के दीदार होते हैं। यह दारुण सच दैनिक अखबारों के कथित कला समीक्षक या सांस्कृतिक रिपोर्टरों के आसपास साफ़ तौर पर परखा जा सकता है।

कवि-कथाकार और कला विषयों के नियमित लेखक उदयन वाजपेयी सवाल करते हैं कि कलाकृति और पाठक या दर्शक के बीच के इस पुल यानी समीक्षक को हम ठीक से तैयार क्यों नहीं कर पाए? क्यों ऐसा है कि हमारे अधिकांश अखबारी समीक्षक निहायत अज्ञानी और अपरिष्कृत हैं? उदयन कहते हैं कि यह आश्चर्यजनक और दुःखद तथ्य है कि हमारे देश के अधिकतर अखबारों के कला-साहित्य-नृत्य-संगीत समीक्षक अशिक्षित और इन तमाम विधाओं की परंपरा से अधिकतर अनभिज्ञ हैं। उनमें से अधिकांश में इन कलाओं की बारीकियाँ समझने की सामर्थ्य नहीं है और चूंकि कलाओं और साहित्य में जो कुछ भी नया होता है, वह बारीक स्तर पर ही हुआ करता है इसलिए ये समीक्षक यह कभी पहचान नहीं पाते कि कौन-सा लेखक या कौन-सा कलाकार कुछ सचमुच नया कर रहा है और कौन अपने को बेशर्मी से दोहरा रहा है।

सांस्कृतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में सक्रिय हुए कुछ युवाओं का मानना है कि आज की पत्रकारिता छपे हुए शब्दों का एक विशिष्ट कारोबार है जिसमें बड़ी पूंजी लगी हुई है। इसलिए खबरों के लिए 'स्पेस' की मारामारी मची रहती है। अब जिन खबरों का बाज़ार भाव नहीं होगा, वे खबरें मुश्किल से ही छप सकेंगी। ऐसे में यह सांस्कृतिक रिपोर्टर की ज़िम्मेदारी है कि वह अपनी खबरों को इस तरह प्रस्तुत करे कि उसका कुछ बाज़ार भाव बन सके।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में जितने सरकारी और गैर सरकारी सांस्कृतिक संस्थान हैं, वे अभी भी मीडिया के साथ कुंभकर्णी मुद्रा में हैं। उन्हें लगता है कि मीडिया खुद उनके पास आएगा। इसलिए वे अभी भी सांस्कृतिक जन-संपर्क, विज्ञापन, प्रचार और नई मार्केटिंग से विमुख हैं। ऐसा नहीं है कि इन संस्थानों के पास धन की कमी है।

दूसरी ओर पर्याप्त मेहनत करने और सामाजिक प्रतिबद्धता के बावजूद सांस्कृतिक पत्रकार दोहरी असुविधा और उपेक्षा के शिकार हैं। एक ओर राजनीतिक, आर्थिक, फिल्म और दूसरे क्षेत्र के संवाददाताओं की तुलना में उन्हें अखबार के भीतर कम महत्व मिलता है, साथ ही उन्हें जूझना पड़ता है कार्यक्षेत्र में अपनी उपेक्षा से। दरअसल, यह समय सांस्कृतिक खबरों के बाज़ार भाव को पहचानने का है। आने वाले दिनों में आशा की जा सकती है कि सांस्कृतिक रिपोर्टिंग अपने ऊंचे बाज़ार भाव के कारण मुख्यधारा की पत्रकारिता में एक स्वतंत्र 'बीट' बन पाएगी। इस बीच संस्कृति और कलाओं के विभिन्न संदर्भों के साथ जिन लेखक-पत्रकारों ने लगातार नियमित अथवा कभी-कभार अपनी समझ-बूझ भरी लेखकीय उपस्थिति का सुप्रमाण दिया है उनमें विजयशंकर मिश्र, यतीन्द्र मिश्र, अखिलेश, पीयूष दईया, रवीन्द्र मिश्र, राजेश गनोदवाले, संजय पटेल, सुनील मिश्र, अजीत राय, संगम पाण्डे, आकांक्षा पारे, शशिप्रभा तिवारी, श्याम मुंशी, मंजरी श्रीवास्तव आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

जिस स्तर पर कला पत्रकारिता की कोशिशें जारी हैं, सत्ता या समाज उनके पोषण या प्रोत्साहन के लिए कितना उदार या सहिष्णु है। देश में गिनती की कला पत्रिकाएँ सरकारी या गैर सरकारी उपक्रमों द्वारा शुरू की गईं, उनके पोषण या प्रसार को लेकर कोई गंभीर पहल नज़र नहीं आती। नियमित, समर्पित और काबिल कला लेखन करने वाले नुमाइंदों को ज़रूरी संसाधन मुहैया कराना कितना ज़रूरी समझा है हमारी सरकारों और संस्थानों ने। हिन्दी में कला लेखन का उत्कर्ष एक साझा पहल से ही संभव है।

इन तमाम चिंताओं के बीच इस बात पर भी गौर करने की ज़रूरत है कि जिस स्तर पर कला पत्रकारिता की कोशिशें जारी हैं, सत्ता या समाज उनके पोषण या प्रोत्साहन के लिए कितना उदार या सहिष्णु है। देश में गिनती की कला पत्रिकाएँ सरकारी या गैर सरकारी उपक्रमों द्वारा शुरू की गईं, उनके पोषण या प्रसार को लेकर कोई गंभीर पहल नज़र नहीं आती। नियमित, समर्पित और काबिल कला लेखन करने वाले नुमाइंदों को ज़रूरी संसाधन मुहैया कराना कितना ज़रूरी समझा है हमारी सरकारों और संस्थानों ने। हिन्दी में कला लेखन का उत्कर्ष एक साझा पहल से ही संभव है।

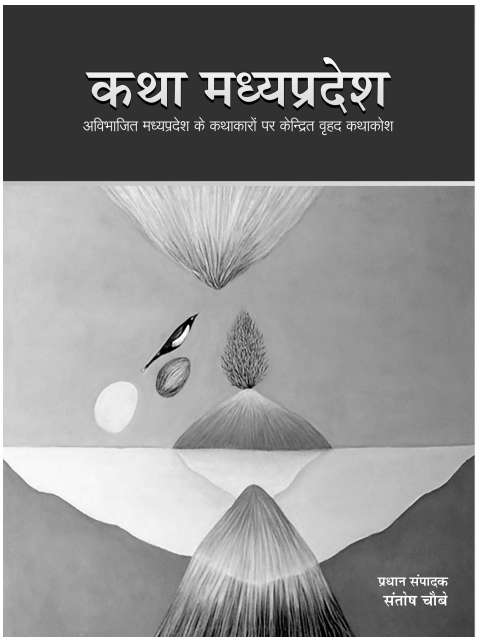

'कथा मध्यप्रदेश' पिछले तकरीबन सौ वर्षों का एक ऐसा सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक दस्तावेज़ है जो इन्हीं स्तरों पर मध्यप्रदेश के बदलावों का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह संकलन इस बात की गवाही भी देता है कि साहित्य किस तरह से तमाम उतार-चढ़ावों के बीच मनुष्य व मनुष्यता में आस्था निर्भर रखता है। मानवीय गरिमा व मूल्यों को बचाये व बनाये रखने का सतत् प्रयास भी करता है। इन कहानियों का संसार मध्यप्रदेश की कहानियों की जातीय विशेषता को भी स्पष्ट करता है। यह भी कि किस तरीके से इस विपुल भारतीय हिन्दी कथा संसार में मध्यप्रदेश के कहानीकारों की कहानियों की पहचान विशिष्ट व अलग है। मध्यप्रदेश की कहानियाँ अपने स्थापत्य में भी सर्वथा अलग हैं। स्थानिक पहचान व चेतना को विश्व चेतना में रूपांतरित करने की कला, हास्य-व्यंग्य के साथ-साथ अपार करुणा का भाव संसार इस युद्धोन्मादी, हिंसक व कठिन समय का एक मानवीय साहित्यिक प्रतिपक्ष तो रचता ही है साथ ही यह विश्वास भी दिलाता है कि मध्यप्रदेश की रचनात्मकता का संसार अंतिम आदमी के दुःख को साझा करता हुआ उसके संघर्ष को और मज़बूत बनाने में जुटा हुआ है। -अरुणेश

दस्तावेज़ी पहल

कहानी का जगमग संसार

संतोष चौबे

कथा मध्यप्रदेश में आलोचकों ने अपने समय और कथा का भाष्य करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, इनमें डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री, डॉ. धनंजय वर्मा, नामवर सिंह, सुरेंद्र चौधरी, विश्वनाथ त्रिपाठी, रोहिणी अग्रवाल, डॉ. कमला प्रसाद, विजयमोहन सिंह, विनोद शाही, खगेंद्र ठाकुर, शशिभूषण शीतांश, शंभु गुप्त, कृष्णमोहन, बलिराज पांडेय, राजेंद्र यादव, राजकुमार, सुधीर रंजन सिंह, अजय वर्मा, जयप्रकाश, विनोद तिवारी, प्रियम अंकित, अरुणेश शुक्ल एवं अन्य शामिल हैं। उन्होंने अपने समय की कथा प्रवृत्तियों को तो रेखांकित किया ही है, भविष्य की संभावनाओं पर भी दृष्टिपात किया है। आलोचकों के चयन में प्रादेशिक बाध्यता नहीं रखी गई है, इसका एक बड़ा कारण राष्ट्रीय परिदृश्य में हो रही कथा हलचल के परिप्रेक्ष्य में मध्यप्रदेश की रचनाशीलता को रखना और अपने समय के प्रमुख कहानी आंदोलनों को रेखांकित करना रहा है।

प्रारंभ में ही अपने समय के प्रख्यात आलोचक डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री हमें सूचित करते हैं कि 'साहित्यिक दृष्टि से मध्यप्रदेश के नवीन युग का प्रारंभ सन् 1920 से माना जा सकता है। खंडवा के 'सुबोध सिंधु' से लेकर नागपुर के 'हिंदी केसरी' तक और 'हिंदी केसरी' से लेकर जबलपुर के 'कर्मवीर' तक जो साहित्यिक प्रयत्न मध्यप्रांत में हुये, उनके बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच सकना यद्यपि कठिन है, तथापि इन तीनों युगों की कृतियों में विषय, भाव और अभिव्यक्ति की भिन्नता, थोड़ा ध्यान देने से स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। म.प्र. की साहित्यिक कृतियों में सादगी, निश्छलता और ईमानदारी अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में मिलती है।'

आज़ादी के बाद कहानी के विकास को रेखांकित करते हुये नामवर सिंह कहते हैं- 'आज़ादी के साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और संवर्धित हुआ जो साहित्य के इतिहास में कहानी का जन्मदाता है। शुरू के तीन चार वर्षों की संक्रमणकालीन अराजकता की स्थिति जैसे ही समाप्त हुई और संविधान निर्माण के द्वारा देश में जनतंत्र कायम हो गया तो साहित्य सृष्टि के लिये एक नया वातावरण मिला। राष्ट्रभाषा हिंदी ने राजकीय स्वीकृति प्राप्त करके भारतीय साहित्य में एक नई ऐतिहासिक भूमिका शुरू की और लोकप्रिय साहित्य रूप कहानी को स्वभावतः सबसे अनुकूल वातावरण मिला। यह आकस्मिक नहीं है कि जो 'कहानी' पत्रिका सन् 1938 में निकलकर कुछ दिनों बाद ही लड़ाई के कारण बंद हो गई थी, उसे फिर निकालने का हौसला सरस्वती प्रेस को 1954 में हुआ। सरस्वती प्रेस की 'कहानी' हिंदी में इस दशक की कहानी की पहली साहित्यिक पत्रिका तो नहीं, बल्कि एक तरह से इस पूरे कहानी दशक की शुरुआत है। कहानियाँ हंस, प्रतीक, कल्पना आदि पत्रिकाओं में भी छपती थीं और निश्चय ही काफी पहले से छपने लगी थीं; किंतु 'कल्पना' को छोड़कर शेष सभी 1954 तक आते-आते बंद हो गईं। इसके अतिरिक्त बिल्कुल कहानियों की ही पत्रिका निकलने की कुछ और ही बात है।'

स्वतंत्रता के बाद के समय और उसके आगामी कथा साहित्य पर प्रभाव के संबंध में सुरेंद्र चौधरी एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं, 'आज़ादी लगभग आधी शताब्दी के पास आई। यह आज़ादी हमारे समकालीन इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। इस राष्ट्रीय घटना के साथ साहित्य के भीतर की कुछ घटनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सन् 1946-47 के आसपास प्रगतिशील साहित्यकारों का सबसे व्यापक राष्ट्रीय मोर्चा बना

और 1951-52 के आसपास टूट गया। इतना बड़ा राष्ट्रीय मोर्चा फिर कभी न बना। उत्तरशती की संपूर्ण साहित्य यात्रा का संबंध तो इससे है ही, विशेष रूप से 'कथा साहित्य' का प्रश्न इससे अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।'

1950-60 के दशक के बीच धीरे-धीरे स्वतंत्रता प्राप्ति के समय के आदर्शवाद का स्थान बदलते परिवार समाज के तनावपूर्ण रिश्तों और 'नव यथार्थवाद' ने ले लिया और इस बीच उभरने वाले कथाकारों में सामाजिक आलोचना का यह स्वर काफी प्रखर रूप से ध्वनित हुआ। अपनी सर्जनात्मकता से कई कथाकारों ने इसे और समृद्ध किया। नई कहानी के इस उभार पर नामवर सिंह कहते हैं, `1959-60 तक इस कहानी दशक में उभरने वाले नये कहानीकारों ने अपने अपेक्षाकृत नये सर्जनात्मक कृतित्व से हिंदी कहानी को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। अकेले इस दशक में हिंदी में जितनी अच्छी कहानियाँ लिखी गईं, वह अपने आप में एक मिसाल हैं। हिंदी की जो नई प्रतिभाएँ कुछ समय पहले कविता की ओर मुड़ जाया करती थीं, वे तथा वैसी अन्य अनेक प्रतिभाएँ इस दशक में प्रायः कहानी के क्षेत्र में आ गईं। सभी नये कहानीकारों में समान रूप से नये सृजन की चेतना भले न रही हो, किंतु इस कहानी दशक की मुख्य प्रवृत्ति नये सृजन की थी सब जगह जीवन दृष्टि भले ही एक सी स्पष्ट न हो पाई हो, किंतु प्रायः सभी में अपनी सर्जनात्मकता के बीच से ही जीवन दृष्टि विकसित करने का प्रयास रहा है।'

सुरेंद्र चौधरी इस बात की पुष्टि करते हुये कहते हैं, 'इस पूरे दौर में कथा के केंद्र में परिवार-समाज रहा। कुछ लोगों ने इस परिवार-समाज की कथा लिखते हुये बाहर के तथ्य से भीतर के सत्य को तरजीह दी। प्रश्न घटना-प्रसंग या कालबद्ध तथ्यों का भी था और उस अपरिचित दबाव का भी जिसके तहत सारे रिश्ते कहीं अलग-थलग पड़ गये।'

कहानी के इस दौर में कहानी के गुणों और मूल्यों की पहचान के प्रयास दोबारा शुरू हुये। नई कहानी तथा समकालीन कहानी के दौर के प्रमुख आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा ने, जिनका कार्यक्षेत्र मध्यप्रदेश ही रहा है, अपने एक लंबे आलेख में हिंदी कहानी के इतिहास का विहंगावलोकन किया है। उन्होंने अच्छी कहानी के सात सूत्र बताये हैं जो इस प्रकार हैं- आकार, आकर्षण, प्रामाणिकता, प्रतीक-संकेत योजना, प्रस्तुति, शीर्षक और आदि-अंत तथा प्रभाव अन्विति। इसी आलेख में वे कहानी आलोचना और मूल्यांकन के कुछ प्रतिमान भी प्रस्तावित करते हैं। इनमें वे परिवेश, अनुभव संसार, भावबोध, मानव बिंब या मानव परिकल्पना, मूल्य दृष्टि और परिप्रेक्ष्य, रूपविधान और भाषिक संरचना तथा केंद्रीय अनुभूति को शामिल करते हैं। निष्कर्ष के रूप में वे कहते हैं कि, 'कहानी की आलोचना के ये प्रतिमान इतने स्वतंत्र और अलग-अलग इकाई के रूप में कहानी में विद्यमान नहीं होते। कहानी की संरचना में वे संश्लिष्ट और समावेशी रूप में समरस होते हैं। कहानी की कलात्मक सार्थकता की शर्त ही यह है कि उसमें ये सब कितनी रचनात्मक अन्विति और संश्लेष प्राप्त कर सके हैं। ये कहानी के पठन-पाठन और आस्वाद में तो हमारी सहायता करते ही हैं, कहानी की आलोचना और मूल्यांकन का विवेक भी जाग्रत करते हैं। इनके आधार पर एक श्रेष्ठ और कलात्मक कहानी की परख की जा सकती है।'

नई कहानी का बुखार 1960 के बाद धीरे-धीरे उतरने लगा था। विश्व कहानी में जहाँ अस्तित्ववाद का प्रभाव बढ़ा, भारत में भी घटनाहीनता के आतंक ने एक अकहानी को जन्म दिया। इसके पीछे 1962 का हादसा भी था। सुरेंद्र चौधरी बताते हैं कि, 'सन् 1962 के हादसे ने भारतीय मानस को भीतरी अरक्षा के सम्मुख ला खड़ा किया। राष्ट्रभक्ति के झूठे सच्चे उन्माद में कोई गहराई अगर थी तो वह उन्माद के उतर जाने पर प्रकट हुई और भयानक शून्यता में बदल गई। हर मोर्चे पर भोगने वाला मन टूटा। इस टूटन का व्यापक असर कहानियों की रचनात्मकता पर पड़ा। एक अतिकाय सिनिसिज्म देश के मन को घेर कर खड़ा था। ऐसी खीझ भरी मानसिकता कहानियों में पहले शायद इतने बड़े पैमाने पर प्रकट न हुई थी। पूरी एक पीढ़ी इससे प्रभावित हुई। अकहानी हिंदी में उसी सिनिसिज्म का परिणाम बनी। इसके प्रभाव में तमाम मूल्यों को अर्थहीन संगतिहीन घोषित किया गया।'

अकहानी का विश्लेषण करते हुये वे आगे कहते हैं कि, 'अकहानी के दाएँ बाजू में बुभुक्षित और श्मशानी पीढ़ी थी तथा बाएँ युयुत्सु पीढ़ी थी। एक ही पीढ़ी के भीतर मनोदशाओं का यह अलगाव वस्तुतः यथार्थ की क्षति से ही उत्पन्न हो रहा था। अनेक तीखे वस्तु-विषय को लेकर भी कहानियों का यथार्थ वहीं अवरुद्ध हो रहा था, सम्प्रेषणीयता कमतर हो रही थी। पाठक निरंतर कहानियों पर अपनी छूटती पकड़ की गुहार लगा रहे थे।'

फिर भी अकहानी ने कई ज़रूरी काम किये, 'अकहानी ने इतना ज़रूर किया कि पिछले दौर की औपचारिकताओं से कहानी को मुक्त करवाया। ये औपचारिकताएँ कहानी के सभी स्तरों पर प्रकट होती थीं। यथार्थ नंगा होकर भी अपने ऊपर से बहुत सा संभार उतार नहीं सका था। कहानी सब कुछ उतार कर भी अपनी नग्नता उतार नहीं पाई। नंगा होना उसका सच तो न था मानव नियति को परिस्थिति को हवाले करके कोई बड़ी रचनात्मक प्रक्रिया जन्म लेती है, रचना का इतिहास इसे सिद्ध नहीं करता। इसके विपरीत, मानव का संकट जब-जब गहराया है, साहित्य ने उसकी चुनौतियाँ स्वीकार की है।

माधव राव सप्रे

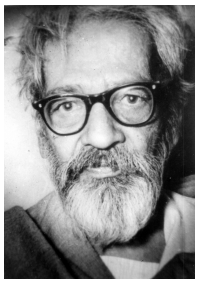
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

वनमाली

मुक्तिबोध

मन्नू भंडारी

नरेश मेहता

परिस्थितियों की दासता मानव मन ने कभी एकदम से स्वीकार कर ली हो, ऐसा न विचारों का इतिहास बताता है और न रचनात्मक इतिहास।'

अकहानी की पृष्ठभूमि में ही लेकिन उसके सेक्सिज्म और आत्मकेंद्रीयता से थोड़ा अलग हटते हुये साठोत्तरी के कहानीकारों ने अपनी कहानियों की रचना की। उसके मूल में नेहरू युग से मोहभंग एवं एक तरह की तनावपूर्ण एवं अराजक स्थितियाँ थीं। साठोत्तरी कहानी ने कहानी का ढांचा पूरी तरह से बदला और पुरानी तरह के मूल्यों को संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया। विजयमोहन सिंह साठोत्तरी कहानियों की विशेषताएँ बताते हुये कहते हैं कि, 'सन् 60 के बाद जो परिवर्तित भावबोध या संवेदना निर्मित हुई उसका सर्वाधिक प्रभाव मानवीय संबंधों पर पड़ा, क्योंकि संवेदना में परिवर्तन का सबसे पहला और गहरा प्रभाव संबंधों पर ही होता है। सारे संबंध नये सिरे से सवाल बन गये थे। माँ, पिता, भाई, मित्र, पत्नी सारे संबंध नये सिरे से सवाल बनकर नये अर्थों में परिभाषित होने लगे थे, किन्तु साठोत्तर की कहानी असामान्य या असामान्य अनुभवों की कहानी नहीं थी। वस्तुतः वह आजादी के बाद क्रमशः बदलते हुये परिवेश तथा परिस्थितियों की कहानी थी जिसके पात्र मुख्यतः वे मध्यवर्गीय युवक थे जो अपनी बौद्धिक चेतना में संशयग्रस्त, प्रश्नाकुल, किंचित कटु और निषेधवादी थे। इस सामान्य के प्रतिनिधि कहानीकार रामनारायण शुक्ल थे। असामान्य प्रवृत्तियों की अतिविचारवादी कहानियाँ 'अ-कहानी' या 'भूखी पीढ़ी' से प्रभावित कहानीकारों ने लिखी थीं और जिन्हें साठोत्तरी कहानी की सामान्य विशेषताओं से जोड़ना सही नहीं है।'

नई कहानी तथा समकालीन कहानी के दौर के प्रमुख आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा ने, जिनका कार्यक्षेत्र मध्यप्रदेश ही रहा है, अपने एक लंबे आलेख में हिंदी कहानी के इतिहास का विहंगावलोकन किया है। उन्होंने अच्छी कहानी के सात सूत्र बताये हैं जो इस प्रकार हैं- आकार, आकर्षण, प्रामाणिकता, प्रतीक-संकेत योजना, प्रस्तुति, शीर्षक और आदि-अंत तथा प्रभाव अन्विति।

'इस दौर में सबसे बड़ी बात यह हुई कि एक सर्वथा नई कथा भाषा निर्मित हुई। यह नई 'कथा भाषा' नये अनुभवों से अनुस्यूत थी। अनुभवों से अलग किसी चमत्कार या अलंकार की तरह नहीं थी, जैसा कि 'नई कहानी' की कहानियों में था। यहाँ 'अनुभव' अपने आप पारदर्शी होकर 'भाषा' बन रहे थे। इसी कारण इस दौर के प्रायः प्रत्येक कहानीकार की अपनी भाषा, मिजाज और अंदाज थे। यह उस भाषा से सर्वथा पृथक थी जिसे लक्ष्य कर देवीशंकर अवस्थी ने कहा था कि दर्जनों कहानियों को पढ़कर लगता था कि एक ही कहानी या पहले की पढ़ी हुई कहानी ही पढ़ रहे हैं। साठोत्तरी कहानियाँ पढ़ते हुये लग रहा था कि प्रत्येक कहानीकार अपनी भाषा तथा वर्णन प्रणाली स्वतः उपलब्ध कर लिख रहा है। इस भाषा की विशेषता थी कि एक ओर जहाँ इसमें एक तरह की तिक्ति, व्यंग्य और सिनिकल तत्व थे वहीं दूसरी ओर एक खिलंदड़ापन, मनमौजीपन, उत्फुल्ल हास्य बोध और स्थानीय स्लैंग्स का दिलचस्प इस्तेमाल भी था।'

समकालीन कहानी तक आते-आते हिंदी कहानी में समय सापेक्षता, ऐतिहासिकता और कालबद्धता की बहस महत्त्वपूर्ण हो उठती है। कहानी के महत्वपूर्ण आलोचक शंभु गुप्त इस संदर्भ में कहते हैं, ''समकालीनता के लिहाज से देखा जाए तो अपने लगभग एक शतक लम्बे इतिहास में हिन्दी-कहानी आशातीत और आश्चर्यजनक रूप से कालबद्ध रही है। कालबद्धता की कई कोटियाँ तथा प्रविधियाँ हो सकती हैं, जो स्थान और समय के चरित्र और स्वभाव के अनुसार स्वरूप धारण करती हैं। किसी भी स्थान और समय का चरित्र और स्वभाव उस स्थान और समय की राजनीति, समाज, अर्थ-व्यवस्था के चरित्र और स्वभाव द्वारा तय होते हैं। अब चूँकि हर स्थान और समय की राजनीति, समाज एवं अर्थव्यवस्था भिन्न होती हैं अतः यहाँ और उसका यथार्थ भी भिन्न होता है। कहानी-आलोचना के पुराने मापदण्डों में 'देश-काल, वातावरण' नामक तत्व जो अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता था तो इसका कारण कहानी की यही ऐतिहासिकता थी। कहानी में से उसके समय या इतिहास को निकाल दें तो जो कुछ बचेगा, वह छूँछ की पूँछ भी नहीं होगा, वह क्या होगा, पता नहीं!''

समकालीन कहानी के प्रतिनिधि रचनाकार उदयप्रकाश की कहानी की चर्चा करते हुये विजयमोहन सिंह कहते हैं, ''नौवे दशक के आरम्भ में अपने कहानी संग्रह 'दरियाई घोड़ा' के साथ आने वाले कहानीकार उदय प्रकाश में अवश्य कथालेखन की प्रचुर सम्भावनाएँ हैं और अपने पहले कहानी संग्रह से लेकर 'पॉल गोमरा का स्कूटर' तक, उनके कथालेखन का ग्राफ उतरोत्तर बढ़ता हुआ देखा जा सकता है। एक तो वे आधुनिक कथालेखन के विश्व परिदृश्य से पूरी तरह परिचित ही नहीं हैं, बल्कि उन्होंने उसे भलीभाँति आत्मसात भी किया है। इसलिए उनकी भाषा तथा तकनीक इतनी परिष्कृत है कि उसकी परिधि में इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र सभी कुछ बड़े कौशल से समाहित हो जाता है। विश्व कथाक्षेत्र में ये विशेषताएँ हेमिंग्वे आदि कथालेखकों के बाद आई हैं। उदय प्रकाश चूँकि बहुपठित तथा सुविज्ञ हैं, अतः वे बड़ी सजगता तथा सतर्कता से कहानियाँ लिखते हैं। वे कहानी के सूक्ष्म ब्योरों तथा उसके संवेदन पक्ष पर जितना ध्यान देते हैं, उतना ही उसे महज ब्योरों तथा उसके ऐन्द्रिक पक्ष के क्षेत्र से निकालकर एक व्यापक सामाजिक सन्दर्भ देने में भी। यह अद्भुत समन्वय उनकी कहानियों को सही अर्थ में 'शताब्दी के ढलान' की कहानियाँ बनाता है जहाँ तिक्तता, व्यंग्य, हताशा तथा आक्रोश एक साथ व्यक्त होते हैं। इस दृष्टि से 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड' उनकी चरम परिणति है।''

खगेंद्र ठाकुर बीसवीं सदी के अंत तक आते-आते, इस दौर की कहानियों में बीसवीं सदी की शुरू की वर्णनात्मकता देखते हैं हालांकि अर्थवत्ता में उनमें एक तरह का स्पायरल ग्रोथ हुआ है, ''देखने की बात यह है कि इसी बीसवीं सदी में हिन्दी कहानी ने अपने प्रारम्भिक दौर में जिस प्रकार की वर्णनात्मकता के सहारे रूपाकार ग्रहण किया था, लगभग उसी तरह की वर्णनात्मकता के सहारे इस सदी के अन्तिम वर्षों में हिन्दी कहानी ने ऐतिहासिक प्रगति के रास्ते पर मजबूत कदम रखे हैं। प्रेमचंदोत्तर काल में मनोविश्लेषणात्मक कहानी के दौर के कहानीकारों और आलोचकों ने जिस किस्सागोई को कहानी के पिछड़ेपन का लक्षण माना था, उसी तरह की किस्सागोई आज की कहानियों के शिल्प का मुख्य तत्व बन गयी है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्या यह कि आज के कहानीकार पीछे की ओर जा रहे हैं या कहानी को आगे ले चलने में असमर्थ हैं? या कि हिन्दी कहानी फिर पिछड़ रही है? नहीं, यह सब कुछ नहीं है। बात यह है

कि वैयक्तिकता या व्यक्तिपरकता कहानी नाम की विधा के लिए अनुकूल प्रवृत्ति नहीं है और आमतौर से बात यह भी है कि अन्तर्जगत स्वतः रचना का स्रोत नहीं बन सकता है। और जब आज का रचनाकार बाहरी दुनिया के यानी अपने जीवन के अनुभवों को समेटने की कोशिश करने लगता है, तो पाता है कि अनुभवों और घटनाओं की अन्तःसूत्रता, परस्पर निर्भरता, अन्तरसम्बद्धता पहले की तुलना में ज्यादा बढ़ गयी है। ऐसी हालत में घटनाहीनता अथवा अत्यल्प घटनापरकता के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व, चरित्र या उसकी संवेदना को पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। एकाध सन्दर्भ नहीं अनेक सन्दर्भों की श्रृंखला आज के जीवन और समाज के साक्षात्कार के लिए जरूरी समझी जा रही है। जीवन और समाज की अत्यधिक जटिलता ने कहानी के रूपाकार को, उसके भीतर गुम्फित चेतना को प्रभावित किया है। इसीलिए आज की श्रेष्ठ कहानियां नयी कहानी या उसके बाद के दौर के ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ आदि की कहानी से भिन्न हैं। आज की ऐसी घटना प्रधान कहानियां 'उसने कहा था', और 'नमक का दरोगा', जैसी कहानियों की याद दिलाती हैं, लेकिन वह याद भर ही है, उनकी आवृत्ति कतई नहीं है। उसने कहा था या नमक का दारोगा जैसी कहानियों में कथ्य और संवेदना का सरल विकास है, जबकि आज की कहानियों में कथ्य और संवेदना में जटिलता है। जाहिर है कि नयी कहानी और उसके बाद के दौर की कहानियों से आज की कहानियां आगे हैं और स्वयं हिन्दी कहानी के इतिहास में आज की कहानियों का महत्व कम नहीं, ज्यादा ही है।''

सोवियत साम्राज्य के विघटन एवं बढ़ते हुये बाजारीकरण के संदर्भों में 'यथार्थ' की पारंपरिक आलोचनात्मक अवधारणा पर भी पुनर्विचार करने की जरूरत महसूस होती है और विचारधारात्मक सवालों पर भी। इस संदर्भ में राजकुमार की टिप्पणी देखें, ''सवाल यह है कि क्या कहानी पहले से ज्ञात यथार्थ को सिर्फ पुनर्प्रस्तुत करती है? यदि ऐसा है तो फिर कहानी पढ़ने लिखने की सार्थकता क्या है? ऐसा क्यों होता है कि एक अच्छी कहानी पढ़ने के बाद हमें लगता है कि इस 'यथार्थ' का कुछ एहसास तो हमें भी था। किन्तु कहानी पढ़ने से पहले हम उसे उस ढंग से नहीं समझ पाये थे। कहने का आशय यह कि जिसे हम औसत हिन्दी आलोचना में 'यथार्थ' कहते हैं, उसका बोध कहानी पढ़ने के बाद (उससे पहले नहीं) होता है। जैसे समाज विज्ञान की अच्छी पुस्तक पढ़ने से समाज की समझ समृद्ध होती है वैसे ही अच्छी कहानी पढ़ने से 'यथार्थ' को समझने की दृष्टि मिलती है। यथार्थ पुकार पुकार कर अपनी व्याख्या स्वयं नहीं करता। पूंजीवाद को समझने के लिए किसी मार्क्स की जरूरत पड़ती है। पूंजीवाद के यथार्थ से नहीं, उसके भाष्य से पूंजीवाद की समझ विकसित होती है। कहानी भी अंततः यथार्थ का भाष्य है। यथार्थ का भाष्य करने के कुछ तरीके कहानी समाज विज्ञान से लेती है किन्तु समाज विज्ञान भाष्य को वह सिर्फ दोहराती नहीं है। क्योंकि यथार्थ की लीला अपरम्पार है और कोई भी समाज विज्ञान यह दावा नहीं कर सकता कि उसने यथार्थ की नानाविध लीलाओं के सारे आयामों को अंतिम रूप से समझ लिया है। यथार्थ की लीलाओं को समझने के तरीके और भी हैं। आख्यान यथार्थ की लीलाओं को समझने के कुछ वैकल्पिक/पूरक तरीकों को अपनाता है। यथार्थवाद पर अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक लिखने वाली विदुषी पाम मोरिस लिखती हैं कि- ''आख्यान शब्द ज्ञान प्राप्ति के दूसरे तरीके के बारे में सोचने के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। ज्ञान प्राप्ति का यह तरीका वस्तुगत भौतिक जगत के पर्यवेक्षण पर आधारित अनुभववादी ज्ञान मीमांसा से भिन्न है। ज्ञान का एक रूप वह है जो सर्जनात्मक क्रियाकलाप से उत्पन्न होता है, जो वहां सम्बंध और समानता खोज लेता है, जहां इससे पहले कोई सम्बंध और समानता नहीं पहचानी गयी थी; ऐसा ज्ञान जो वर्तमान संसार की नापजोख करने के बजाय सम्भाव्य संसार की परियोजना प्रस्तुत करता है।''

''यह ठीक है कि आख्यान का सच अपूर्ण हो सकता है; बिल्कुल वैसे ही जैसे समाज विज्ञान का सच त्रुटिपूर्ण हो सकता है। किन्तु उनमें परस्पर संवाद से सच की समझ बेहतर भी हो सकती है। बीसवीं सदी के इतिहास ने हमें यह सबक सिखाया है कि यदि कोई समाज विज्ञान या विचारधारा त्रुटिहीन पूर्ण सत्य देने का दावा करे तो उस पर संदेह करो। यदि कोई विचारधारा पूर्ण सत्य देने का दावा करते हुए आख्यान के सच को अपने सच के अनुरूप ढालने का दबाव बनाये तो उसका विरोध करो। सच तो सम्भवतः यह है कि आख्यान का सच विचारधारात्मक सच के दावे को प्रायः संदिग्ध और समस्याग्रस्त बनाता है। कभी सचेत रूप से और कभी अनजाने ही। विचारधारात्मक सच के सांचे में पूरा समा जाने वाली शायद ही कोई ऐसी आख्यानात्मक कृति हो जो कालजयी साबित हुई हो।''

युवा कहानी के संदर्भ में राकेश बिहारी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को नया प्रस्थान बिंदु मानते हैं, ''कहने की जरूरत नहीं कि नब्बे के दशक में कल्ले फोड़ता भूमंडलीकरण आर्थिक-सामाजिक रूप से एक नया प्रस्थान बिन्दु है। यह वही समय है जब भूमंडलीकरण के समानांतर सूचना और संचार क्रांति का उल्लेखनीय विस्तार आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर एक बड़े बदलाव की भूमिका लिखता है। नई-नई सूचनाओं और नए-नए उत्पादों के बीच हम मनुष्य से उपभोक्ता में तब्दील होने लगते हैं या कि कर दिए जाने लगते हैं। ज्ञान और जानकारी के खुलते नए गवाक्षों के बीच बाजार हमारी संवेदना को लगभग अपनी मुट्ठी में कैद कर लेता है और इसी बीच

शरद जोशी

मालती जोशी

मेहरुन्निसा परवेज

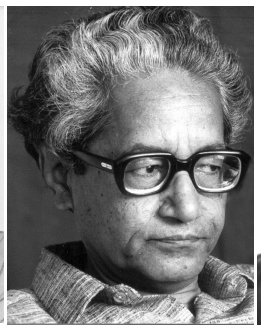
रमेश चंद्र शाह

ज्ञान चतुर्वेदी

सदियों से दलित-दमित समुदाय अपने अधिकारों को लेकर सचेत हो जाते हैं। इस बदलते समय की शुरुआती धमक को नब्बे के दशक के पूर्वार्द्ध में उदय प्रकाश, अखिलेश, संजय सहाय, गीतांजलिश्री जैसे कथाकारों ने अपनी कहानियों में पहचान लिया था। भूमंडलोत्तर समय में विकसित नई कथा-पीढ़ी की कहानियाँ बाजार और अस्मिता संघर्ष के विस्तार से उत्पन्न उन्हीं सामाजिक-आर्थिक परिणतियों के बहुकोणीय विस्तार की उल्लेखनीय गवाहियाँ हैं।''

युवा कहानी में विषयों की जटिलता और उनके ट्रीटमेंट को लेकर नीरज खरे ने एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है, ''पिछले पंद्रह साल की कहानियों में रचना-बोध का वैविध्य और जटिल संस्तरों पर यथार्थ के प्रगटन और उसे रचनात्मक आयाम देने के लिए कहानी ने विभिन्न फार्म स्वीकार किए हैं। कहानी की अंतर्वस्तु ही रूप (फार्म) भी तय करती है, पर आज की कहानियों में इन दोनों घटकों का 'भाषा' से अद्‌भुत संगठन है। कहना न होगा कि सामयिक परिस्थितियों के दबाव में कहानी की संरचना काफी प्रभावित हुई है- इधर की कहानी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बदलाव है- आकार में विशालता और औपन्यासिक कलेवर। लंबी कहानियाँ लिखने का चलन बढ़ा है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की अनेक चर्चित कहानियाँ प्रायः लंबी ही हैं- जहाँ उपन्यास और कहानी के शास्त्रीय भेद को मिटा देने की जैसे कहानीकार ने ठान ली है। एक-एक कहानी को लेकर किताब बनने की प्रक्रिया को देखते हुए, लगता है साहित्य में कहानी और उपन्यासविधा के बीच 'लघु उपन्यास' की श्रेणी स्थापित हो गई है। वैसे लंबी कहानियाँ पहले भी लिखी जाती थीं, पर उनका बोध एकायामी ही होता था। जीवन और परिवेश के प्रति गहरा संपर्क कहानी का प्राण है। लेकिन सामाजिक प्रतिबद्धता और 'कहने' की पुरानी सीमाएं लांघना, आज के कहानीकार के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इधर की नयी पीढ़ी के ठीक पहले वाली पीढ़ी की कहानियों में स्पष्ट संकेत हैं कि कहानियों में अनुभवों और घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता पहले की तुलना में कहीं ज्यादा बढ़ गयी है। यथार्थ के उद्‌घाटन के लिए स्थितियों के विवरण, घटनाओं के ब्यौरे और सूचना-संदर्भों की बहुल उपस्थिति का सहारा कहानीकार को लेना पड़ता है। यह अकारण नहीं कि अखबारी पत्रकारिता, टेलीविजन के धारावाहिक और फिल्म के शिल्प एवं तकनीक का अपरोक्ष दबाव कहानी के फार्म पर पड़ा है। कहानी के इस स्वरूप से उसका भाव पक्ष और कथापन का ह्रास भी हुआ है। उत्तरोत्तर बदलते यथार्थ को कहानीकार अपने अनुभव और निजता का हिस्सा बनाने के लिए फैंटसी, रूपक, प्रतीक या जादुई-शैली के प्रयोग चुनता है।''

मध्यप्रदेश के कथाकार न सिर्फ सभी कथा आंदोलनों और प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित रहे हैं बल्कि कई परिवर्तनों एवं नवाचारों का तो उन्हें वाहक भी कहा जा सकता है। हम पुरानी पीढ़ी के वनमाली जी, मुक्तिबोध, हरिशंकर परसाई, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा, शानी एवं शरद जोशी की बात पहले भी कर चुके हैं। नई कहानी की प्रतिनिधि रचनाकार मन्नू भंडारी एवं साठोत्तरी के ज्ञानरंजन, विश्वेश्वर, ममता कालिया, सतीश जायसवाल, रमाकांत श्रीवास्तव एवं विभु कुमार सभी मध्यप्रदेश से आते हैं। अ-कहानी के रमेश बक्षी का संबंध मध्यप्रदेश से ही रहा है। इसी पीढ़ी के रमेशचंद्र शाह, विनोद कुमार शुक्ल और रमेश दवे ने कथा की गति, बिम्ब और भाषा में अद्‌भुत प्रयोग किये हैं। समकालीन कथाकारों में उदयप्रकाश ने रचनात्मकता के नये प्रतिमान रचे हैं और अनिता सभरवाल, स्वयंप्रकाश, कुमार अंबुज, राजेश जोशी, शशांक, तेजिंदर, महेश कटारे एवं हरि भटनागर ने अपनी तरह से सामाजिक सरोकारों और नये समय की कहानियाँ लिखी हैं। परसाई और शरद जोशी की व्यंग्य की अंतर्धारा को ज्ञान चतुर्वेदी एवं अंजनी चौहान जैसे रचनाकारों ने आगे बढ़ाया है। प्रयोगशीलता की दृष्टि से उदयन वाजपेयी, संतोष चौबे एवं मुकेश वर्मा जैसे कथाकार हैं जो कहानी की तकनीक और भाषा के साथ नये प्रयोग कर रहे हैं। जहाँ नवीन सागर एवं प्रभु जोशी जैसे भाषा एवं प्रतीकों के सिद्धहस्त कथाकार हैं तो मंजूर एहतेशाम, आफाक अहमद और इकबाल मज़ीद जैसे रचनाकार मुस्लिम समाज के अंतरंग और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करते हैं। युवतर कथाकारों में मनोज रूपड़ा, कैलाश बनवासी, आनंद हर्षुल, रामकुमार तिवारी एवं राजेंद्र दानी ने नये प्रतीकों के माध्यम से कथा रचना की है। महिला कथाकारों में कृष्णा अग्निहोत्री, मेहरुन्निसा परवेज़, मालती जोशी, अनिता सभरवाल, उर्मिला शिरीष, रेखा कस्तवार, स्वाति तिवारी जैसे कथा संसार के चमकते नाम हैं। युवा कथाकारों की एक पूरी पीढ़ी सामने आई है जिनमें आकांक्षा पारे, इंदिरा दांगी, तरुण भटनागर, ऋषि जजपाल, पंकज सुबीर, मोहन सगोरिया, रवि बुले, वंदना राग, शम्पा शाह, सत्यनारायण पटेल और शरद सिंह जैसे रचनाकार हैं जो बिल्कुल नये तरह का काम कर रहे हैं।

ये मध्यप्रदेश के कथाकारों का जगमग संसार है।

मंजूर एहतेशाम

सत्येन कुमार

उदय प्रकाश

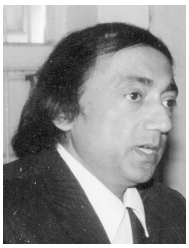
प्रभु जोशी

तेजिंदर

शशांक

वंदना राग

मध्यप्रदेश के कथाकार न सिर्फ सभी कथा आंदोलनों और प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित रहे हैं बल्कि कई परिवर्तनों एवं नवाचारों का तो उन्हें वाहक भी कहा जा सकता है।

मध्यप्रदेश को आमतौर पर लोक कलाओं, पर्यटक स्थलों और भौगोलिक विशेषताओं से ही पहचाना जाता हैं। क्यों नहीं इसकी पहचान में शामिल हो पाता इस प्रदेश का साहित्य जगत। क्यों नहीं मध्यप्रदेश की पहचान में उसके कथा लेखक, साहित्यकार, कला और संस्कृतिकर्मी भी इसमें शामिल हो पाते? इसी दिशा में उठाया गया कदम है- 'कथा मध्यप्रदेश'

एक सदी का प्रवाह

किसी भी विश्वविद्यालय का चरित्र आम तौर पर उसके छात्रों, शिक्षकों व परिसर में हो रहे शोध की गुणवत्ता तथा शोध परियोजनाओं से बनता है। आईसेक्ट विश्वविद्यालय अपनी अवधारणा में ही शोध व शोध परियोजनाओं को केन्द्रीयता देता रहा है। इसी के तहत आज से तकरीबन तीन वर्ष पूर्व अविभाजित मध्यप्रदेश के कथाकारों को लेकर एक वृहत् कथा कोश निर्माण की बहुत समृद्ध परम्परा नहीं रही है। काशी नागिरी प्रचारणी सभा, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं के प्रयासों को छोड़ दिया जाये तो इस दिशा में परिवेश बहुत उत्साहजनक नहीं है। हालत यह है कि चयनित या श्रेष्ठ कथाकारों को लेकर लेखकों द्वारा सम्पादित पुस्तक ही आ पा रही हैं। इस तरह के वृहत् कोश के लिए सांस्थानिक प्रयास की ज़रूरत ज़्यादा होती है। इसलिए आईसेक्ट विश्वविद्यालय ने यह निर्णय लिया कि इस रिक्तता को दूर करने हेतु 'कथा मध्यप्रदेश' का प्रकाशन एक बड़ी परिघटना होगी। इस वृहत् कथा कोश का प्रकाशन इसलिए भी स्वागत योग्य है। क्योंकि विश्वविद्यालय का यह दायित्व भी होता है कि वह न सिर्फ अध्ययन-अध्यापन व शोध हेतु जरूरी माहौल का निर्माण करे अपितु छात्रों को शोध कार्य से जुड़ी सामग्री भी उपलब्ध कराये। यह कथा कोश अविभाजित मध्यप्रदेश के तकरीबन दो सौ पच्चीस से अधिक कथाकारों की प्रतिनिधि कहानियाँ एक साथ तो उपलब्ध कराना ही है साथ ही आलोचकों के आलेख कहानियों को समझने की एक दृष्टि भी प्रदान करते हैं। **-अरुणेश शुक्ल**

हिन्दी कथा का रचनात्मक इतिहास

हिन्दी शब्दकोशों के प्रकाशन की एक विशाल परम्परा है। इसी तर्ज पर क्या हिन्दी कथाकोश या हिन्दी कविताकोश या हिन्दी निबंधकोश या हिन्दी आलोचना कोश के प्रकाशन की परम्परा विकसित हुई है? यह देखने-सुनने में नहीं आया। इक्के-दुक्के ऐसे प्रयास कहीं देखे गए हैं लेकिन वे अत्यल्प ही हैं। इधर आईसेक्ट विश्वविद्यालय, भोपाल ने हिन्दी कथाकोश, हिन्दी कविताकोश और हिन्दी आलोचना कोश के प्रकाशन की योजना बनाई है जिसकी पहली कड़ी के रूप में कथा मध्यप्रदेश का प्रकाशन किया है जिससे उम्मीद जागती दीखती है कि हिन्दी के पाठकों को कथा के साथ-साथ दूसरी विधाओं के कोशों को पढ़ने का सुयोग प्राप्त होगा। बहरहाल।

कथा मध्यप्रदेश, हमारे सम्मुख है। आईसेक्ट विश्वविद्यालय, भोपाल ने इसे प्रकाशित किया है। विश्वविद्यालय के कुलाधिपति संतोष चौबे इसके प्रधान सम्पादक हैं। 'कथा मध्यप्रदेश' अविभाजित मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता प्राप्ति से लगाकर वर्तमान समय में लिख रहे युवतर कथाकारों की कहानियों का कोश है। कह सकते हैं कि पाठक खड़ी बोली हिन्दी की पहली कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' (माधव राव सप्रे) से लेकर आज तक के यानी हिन्दी कथा के सौ वर्षों से रू-ब-रू हो सकेंगे। छः खण्डों में विभक्त इस कथाकोश में तकरीबन 228 कहानियाँ हैं जिन्हें काल क्रमानुसार क्रमशः कथा विरासत, कथा साठोत्तरी, समकालीन कहानी-1, समकालीन कहानी-2, समकालीन कहानी-3, युवा कहानी-1 और युवा कहानी-2 जैसे हिस्सों बाँटा गया है। तकरीबन 20 आलोचनात्मक आलेख हैं जो कथा सैद्धान्तिकी के साथ कथा प्रवृत्तियों और समय को रेखांकित करते हैं ताकि कथा के साथ पाठक हिन्दी कथा के रचनात्मक इतिहास को जान सकें। **-हरि भटनागर**

सांस्कृतिक विरासत का अनूठा दस्तावेज़

कथा मध्यप्रदेश कथा जगत की सांस्कृतिक विरासत का अनूठा दस्तावेज है। इस अभूतपूर्व और अभिनव पहल में पिछले 100 वर्षों की कथा यात्रा को समेटता यह दस्तावेज जीवन के यथार्थ को कहानियों की शक्ल में कागज पर उतारने का एक सफल प्रयास है, जो समाज, परिवार, और व्यवस्था की गहराई में उतरकर मानवीय संवेदनाओं की बड़ी बारीकी से पड़ताल करता है। मध्यप्रदेश को आमतौर पर इसकी लोक कलाओं, पर्यटक स्थलों और भौगोलिक विशेषताओं से ही पहचाना जाता हैं। क्यों नहीं इसकी पहचान में शामिल हो पाता इस प्रदेश का साहित्य जगत। क्यों नहीं मध्यप्रदेश की पहचान में उसके कथाकार, साहित्यकार, कला और संस्कृतिकर्मी के नाम भी इसमें शामिल हो पाते? 'कथा मध्यप्रदेश' इसी दिशा में उठाया गया कदम है।

आईसेक्ट विश्वविद्यालय अपनी शैक्षणिक जिम्मेदारियों को बखूबी समझता है। यदि युवा वर्ग साहित्य संसार के निकट नहीं जा पा रहा है तो ज़रूरी है साहित्य संसार को उनके पास तक ले जाया जाये। इस बहुरंगी कथा-सागर में यथार्थ, फैंटैसी, यात्रा-वृत्तान्त, गाँव और शहर की बढ़ती दूरियों और टूटते जुड़ते रिश्तों की कहानियाँ हैं। **-संतोष कौशिक**

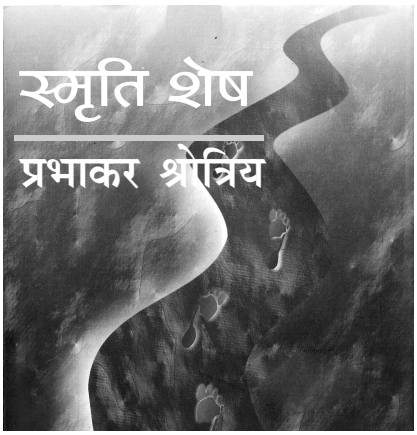

हाँ! कौतुक ही तो था

श्रीराम परिहार

'कविता की तीसरी आँख' के अग्नि-कणों की आँच अपने भीतर अनुभव करने वाले डॉ. श्रोत्रिय के समीक्षा ग्रंथों की संख्या बीस के आसपास है। समीक्षक को बड़ा कहें या उनके नाटककार को या उनके संपादक को- 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' भारतीय मूल्य बोध, रचना और व्यक्ति को मिलाकर उसके सम्पूर्ण का परीक्षण करता है। डॉ. श्रोत्रिय इसी मूल्य-बोध की जागतिक संरचना के सदस्य रहे। उनके समीक्षक, नाटककार, संपादक, प्राध्यापक से भी गुरुतर उनका मनुष्य था। यह मानुष भाव ही आज दुर्लभ है। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय को अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि।

मेरी आँखों की तरलता में एक बिम्ब उभरता है। उसी बिम्ब में बसते हैं- प्रभाकर श्रोत्रिय। उसी में हँसते हैं- डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय। इस बिम्ब में तैरते मोती की आभा वाले श्रोत्रिय जी के चेहरे को देखते ही बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की समीक्षा और साहित्यिक पत्रकारिता वसन्त ऋतु के आम्रतरू-सी दिखती है। दूरस्थ खण्डवा में मैंने नाम सुन रखा था। यह भी जान सका था कि श्रोत्रिय जी बहुत बड़े और सर्वथा समझदार संपादक हैं। पहले 'साक्षात्कार' और उसके बाद 'अक्षरा' के संपादक बने हैं। मेरी ललित निबन्ध की डगमाती यात्रा शुरू ही हुई थी। बच्चे की भाषा अभी तोतली ही थी। पर बच्चा तोतली भाषा में ही संवाद करता है और गिर-गिरकर उठना और चलना-दौड़ना सीखता है। पक्षी-शिशु को नीड़ के बाहर की नीलिमा आकर्षित करती है। आमंत्रित भी करती है। वह आकाश नापने उड़ चलता है। मेरे मन-पक्षी को उम्मीदों के पंख लग गये। उम्मीदें ललित निबन्ध को ले उड़ीं। निबन्ध भेज तो दिया 'अक्षरा' को; पर लगा कि सुबह-शाम की धड़कनें सामान्य से कुछ तेज़ हो गयीं हैं। अपनी मूर्खता को समझने और आकांक्षाओं के हाथों बिन मोल बिकने का वह पहला साक्षात्कार था।

एक दिन डाक की चिट्ठियों में एक तितली निकलती है। टेबल पर बगीचा उग आता है। उसके शब्द-फूलों की सुगंध में एक शिल्पी की परख और दूरदर्शिता पराग-कणों सी मौजूद थी। लिखा- 'निबन्ध अच्छा है, परन्तु इसमें 'ऐसा-ऐसा' काम और कर दो। निबन्ध को सुधार कर वापस भेज दो, यही निबन्ध, दूसरा नहीं।' मैं निहाल हो गया। भला आज कोई सम्पादक ऐसा भी करता है? किसे फुरसत है, किसी से 'वर्कशाप' करवाने की? किसी को राह दिखाने की। राह सुझाने की। लगा जैसे एकान्त भोगते राही के सिर पर पेड़ का पत्ता गिरा हो। उस पत्र में बँधा आशीर्वाद राही के सम्पूर्ण पर बरस गया हो। चाय की प्याली से उठती हुई भाप अंतरिक्ष में गुम न होकर जैसे घूँट में समाकर देह की ऊष्मा बन दौड़ गयी हो। सचमुच जीवन में कभी-कभी ऐसा भी होता है। किसी सम्पादक की मुट्ठी खुल जाती है और शब्द बोल उठते हैं 'मा शुचः'। डरो मत। 'अमृतस्य पुत्राः'। वैदिक पवित्रता सूर्य की कनेरी धूप में दमक उठती है। आँखों का आनन्द-जल किरन-धूप (डॉ. श्रोत्रिय) का अभिषेक कर उठता है।

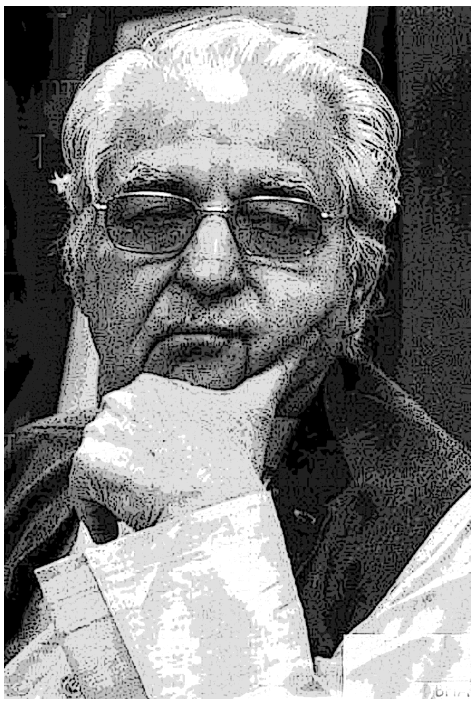

श्रोत्रिय जी से मेरा पहला परिचय उनके घर तुलसी नगर भोपाल में हुआ। (तब वे इसी घर में रहते थे) बात 1989 की है। सुबह पावस ऋतु की धूप की चिड़ियाँ बादलों के वृक्षों से उतरकर श्रोत्रिय जी के आँगन में चहक रहीं थीं। मैं अपनी पहली पुस्तक के लोकार्पण हेतु उन्हें आमंत्रित और निवेदन करने पहुँचा था। देखा तो लगा शंख-चूर्ण की भस्मी लगाये पुस्तकों के बीच धूनी रमाये योगी बैठा हो। तब ही उनके व्यवहार की सहजता में मेरे निमाड़ी किसान की साधारणता सदेह सामने उपस्थित हो गयी थी। मेरी विनय-पत्रिका उन्होंने स्वीकार की और वे खण्डवा पहुँचे थे। मेरे आनन्द और कौतुक का किस तरह बयान करूँ?

हाँ! कौतुक ही तो था। पता नहीं कौन-सा बेतार का तार उनसे निकलकर

मुझसे जुड़ गया था। वे पावस के यौवन के दिन थे। भीषण वर्षा के कारण रेलगाड़ियों की असामान्य स्थितियों के बावजूद वे आयोजन में पहुँचे। सभागृह के सारे चिराग अचानक जल उठे थे। कारण कि एक चेहरा यायावर बनकर अपने 'मूड' में स्नेहिल होकर उपस्थित हुआ था। विदुर के उत्सव में कृष्ण पधारे थे। मैंने अपनी परवाज की ऊँचाइयाँ तब नहीं अनुमानी थीं, लेकिन डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय जी ने पंखों को सहलाकर उनमें दम और ताकत ज़रूर भरी थी। उनका ऐसा बड़प्पन, मेरे भीतर अखण्ड विश्वास की लौ की तरह चुपचाप खुद गया था कि संसार में व्यक्ति का आना-जाना तो अकेला ही होता है, लेकिन संसार में रहते हुए 'सामाजिक इंजीनियरी' आवश्यक है। जुड़ना सहज है। प्रकृति जुड़कर ही निसर्ग रचती है। निसर्ग एकमेक होकर ही परम सत्ता बनता है। माँ ममत्व का प्रतिरूप रचकर शेष से संपृक्त होती है और विस्तारित भी। डॉ. श्रोत्रिय की प्रकृति ने मेरे भीतर निसर्ग का विमल विश्वास रच दिया। पाँखुरियों से जुड़ा फूल अपनी सुगंध में महमहा उठता है।

डॉ. श्रोत्रिय जी 'अक्षरा' से पुनः 'साक्षात्कार' और फिर 'वागर्थ' तक पहुँचे। 'वागर्थ' को उन्होंने 'धर्मयुग' की-सी ऊँचाई दी। आज वे भारतीय ज्ञानपीठ जैसे प्रतिष्ठित अकादमिक संस्थान के निदेशक हैं। प्रथम परिचय से अब तक उनसे अनेक समारोहों-आयोजनों में मुलाकातें हुईं। प्रत्येक मुलाकात में वे मुस्कुराहट की वासन्तिक पाँखुरी और आशीर्वाद की दखिनी हवा का स्पर्श मेरी अँजुरी में डाल देते हैं। मैं संस्कारों की परिभाषा नहीं जानता हूँ। मैं संस्कृति के सघन संदर्भों को भी ठीक-ठीक नहीं पहचानता हूँ, लेकिन एक व्यक्ति अपने व्यवहार और कार्यों में किस जीवन्तता के साथ संस्कार और संस्कृति को जीता है, यह श्रोत्रिय जी के व्यक्तित्व का संसर्ग पाकर समझ सका हूँ। प्रमाण है कि जिस आयोजन में डॉ. श्रोत्रिय उपस्थित होते हैं, उसका गुणी जनों द्वारा 'नोटिस' लिया जाता है और युवा पीढ़ी के लिए वे प्रेरणा और उत्सव के क्षण होते हैं।

'कविता की तीसरी आँख' के अग्नि-कणों की आँच अपने भीतर अनुभव करने वाले डॉ. श्रोत्रिय के समीक्षा ग्रंथों की संख्या बीस के आसपास है। समीक्षक को बड़ा कहें या उनके नाटककार को या उनके संपादक को- 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' भारतीय मूल्य बोध, रचना और व्यक्ति को मिलाकर उसके सम्पूर्ण का परीक्षण करता है। डॉ. श्रोत्रिय इसी मूल्य-बोध की जागतिक संरचना के सदस्य रहे। उनके समीक्षक, नाटककार, संपादक, प्राध्यापक से भी गुरुतर उनका मनुष्य था। यह मानुष भाव ही आज दुर्लभ है। प्रभाकर श्रोत्रिय को अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि।

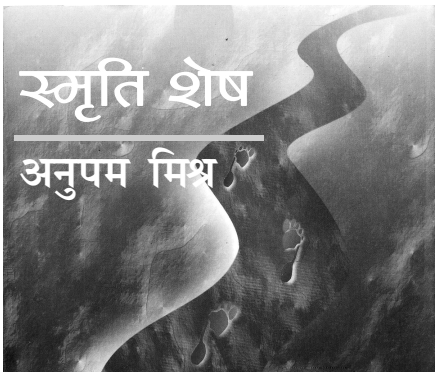

अनुपम का जाना उनके घर-परिवार, स्वयं मेरे लिए भी उतनी बड़ी क्षति नहीं, जितनी इस दुनिया और वंर्तमान सभ्यता के लिए है। पुराणों में जो हम भगीरथ आदि युगान्तरकारी महान पुरुषों के बारे में पढ़ते हैं, हमारे आज के ज़माने में अनुपम उसी वंश और गोत्र के थे। घर-परिवार, कॅरियर, बैलेंस, सत्ता और प्रभुता के ऐश्वर्य को बड़प्पन की पहचान और परिभाषा बनाने और मानने वाले इस समय में घर-परिवार को भी जीवन की एक हकीकत और ज़रूरत मानने वाले अनुपम का एक और भी घर-परिवार था, जिसे पारंपरिक मुहावरे में हम चाहें तो 'लोक' भी कह सकते हैं। लोक से परंपरा जो अर्थ रचती है, उसमें केवल मनुष्य जाति नहीं, प्राणी मात्र आते हैं। धरती, आकाश, पाताल यानी त्रिभुवन (तैलोक्य) भी आते हैं। अनुपम की अगर कोई नागरिकता हो सकती थी, तो यही थी।

आधुनिक ऋषि थे अनुपम

विजय बहादुर सिंह

ऐसा भी नहीं कि अनुपम में कोई वेदनाबोध कभी होता ही नहीं था। हमारी शोर मचाती समझदारियों को लेकर अगर वे चिंतित न होते तो क्या ज़रूरत थी कि वे पर्यावरण को लेकर एक गुरु गंभीर और खूबसूरत किताब तैयार करते। मुझे नहीं मालूम उनसे पहले हिन्दी में किसी ने इसी ढंग का कोई काम किया अथवा नहीं। चिंतित तो बहुत सारे लोग थे। वे भी जायज़ लोग थे और हैं भी। भारतीय समाज के सच्चे पहरेदार। पर अनुपम ने यह काम कर चुकने के बाद चैन की चुप्पी नहीं साधी। वे लगातार उस ख़तरनाक संकट पर सोचते रहे जो आने वाला था। न केवल देश पर बल्कि दुनिया पर भी। फिर भी आधार स्थल तो उनका अपना ही देश था। एक पैदल लोकयात्री के लिए यही सुविधाजनक और सहज भी था। कोई भी चाहे तो इसे उनकी देशधर्मिता भी कहे। या फिर देशधर्मी बुद्धिजीवी। ऐसा जो अपने आसपास, पास-पड़ोस, फिर लोक-लोकांतर को लेकर सोचता और करता हो। एकदम ठेठ देशज। ठीक देशी बोली-बानी और मुहावरों में सोचता और कहता। इसलिए अनुपम का कहा सबकी समझ में आता था। उनकी भी जो इंसानियत की ज़ुबान को समझते थे।

जिन दिनों अनुपम 'आज भी खरे हैं तालाब' की तैयारियों में जुटे थे, दिन को दिन और रात को रात समझना उनके लिए संभव नहीं रह सका था। एक धुन-सी जैसी उनके ऊपर सवार थी। इधर से आते, थोड़ा बहुत पेट में डालते, घर का हालचाल लेते, अपनी देते और फिर थैला उठा अगले ठिकाने की खोज में चल पड़ते। यह 86-87 के आसपास नब्बे के दशक

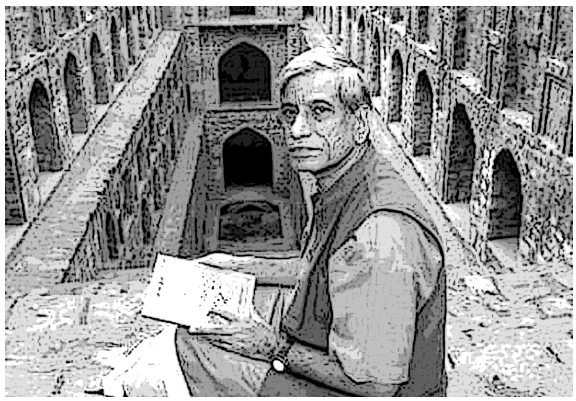

(२०वीं सदी) की बात है। कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली के संपादन के सिलसिले में मैं उनसे कुछ जानकारियां लेना चाह रहा था और बड़े भाई अमिताभ मिश्र बार-बार मुझसे कह रहे थे कि वो बातें शुरू करेगा तो फिर बमुश्किल उसकी बातें खत्म होंगी। छोटे भाई के प्रति स्नेह से लबालब बड़े भाई का यह अभिभावकत्व सिर्फ उसके लिए नहीं, मेरे लिए भी था। फिर भी मैंने ठान रखा था कि एक रात तो मुझे बात करनी ही करनी है। खाता-सोता तो मैं वहीं था। दिल्ली में तब मेरा दूसरा ठिकाना भी क्या था। अगर था भी तो आने-जाने में ही व्यय हो जाता।

आखिरकार एक रात उन्होंने समय निकाला और अपने काम के बारे में बताते रहे। कुछेक बातें अपने कवि-पिता को लेकर बताईं, पर असली तथ्यात्मक जानकारियां तो अब्बी भाई यानी बड़े अमिताभ मुझे दे ही चुके थे। अनुपम अपने पिता को जिस तरह जीते थे, वह जैसे किसी शब्द को उसके अर्थ में साकार कर देने जैसा था। यह तो कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने ही कहा था- हर व्यक्ति/फूल नहीं हो सकता/किंतु खुशबू सब फैला सकते हैं। अनुपम यूं तो गोरे थे, नाक-नक्श वाले फिर भी चेहरे पर एक नैसर्गिक उबड़-खाबड़पन था। तब भी वाणी में मर्म तक उतर जाने की क्षमता थी। इससे भी कहीं अधिक उस दृष्टि में, जो किसी बहुत प्राचीन किंतु विज्ञानपरक सोच से संपन्न थी। झुठलाना तो खैर किसी को वे पसंद नहीं करते थे। यह उनके स्वभाव में नहीं था। इस दृष्टि से वे बहुत बड़े अहिंसक थे। तब भी अपनी सोच और दृष्टि के बल उस दुनिया को बदलने और उस राह पर लाने की कोशिश और अभियान में लगे थे, जो बरसों की गुलामी और परिणामजन्य कुसंस्कारों के चलते भटक गई है।

'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' अपनी जगह 'तैरने वाला समाज डूब रहा है' लिखने के साथ-साथ वे हम जैसों को भी अवाज़ लगाते चलते थे कि 'भैया! मैंने ऐसा सोचा है।' इस आवाज़ में एक घरेलूपन और पारिवारिकता थी। कौन अवध का है, कौन बुंदेलखंड, मालवा या भोजपुर का- इस वर्गीकरण का उनके लिए कोई मतलब नहीं था। सबकी पहचान की बस एक शर्त थी कि वह स्वदेशी मन है या नहीं। उसके पास अपना स्वत्व बचा है या नहीं। कहीं उसका चित्त प्रचंड गुलामी के वशीभीत तो नहीं हो चुका है। अगर यह मन थोड़ा-बहुत भी बचा है तो वे उसे खटखटाने में शायद ही कभी कोई परहेज करते रहे हों। उनकी ध्रुव मान्यता थी कि कैसा भी दरवाज़ा हो, प्यार और अपनत्व के खटखटाने पर खुलेगा ज़रूर। इस संदर्भ में शायद ही कभी उन्होंने छुआछूत बरता हो। तब भी शब्दों को अपने सुनिश्चित सत्ता-स्वार्थों तक घसीट कर उनकी मोहक चमक छीन लेने वालों से वे हमेशा ही सावधान रहे और दूरी बनाए चलते रहे। एक प्रकार की पवित्र चुप्पी जिसमें किसी की अनदेखी का भाव उतना नहीं था, जितना आत्मरक्षा और निर्विघ्न कर्मशीलता का।

उनका समूचा जीवन एक आधुनिक ऋषि का था, जो जल यज्ञ में अपादमस्तक डूबा नहीं, रमा था। जिन लोगों ने थोड़ा बहुत भी वैदिक ग्रंथों के पृष्ठों को उलटा-पुलटा है, वे जानते होंगे कि निसर्ग वरदानों को लेकर ऋषियों की दृष्टि क्या रही है। जल हो, प्रकाश हो, अग्नि हो या फिर आकाश - सबके प्रति एक कृतज्ञता का भाव, न कि अहम्मन्यता, दंभ और स्वामित्व का भाव, न कि अहम्मन्यता, दंभ और स्वामित्व का मुगालता। देश की नदियों की कलकल से जो ध्वनि संगीत फूटता है, उसे उन्होंने ध्यान देकर सुना था। उनके होशंगाबाद से संवाद करती रेवा (नर्मदा) पर उनके पूज्य पिता भी न्योछावर थे। अपनी समूची काव्य सृष्टि के पर्याय के रूप में उन्होंने नर्मदा को उपमित किया था। इन्हीं संस्कारों के चलते वे जीवन भर जल की आरती उतारते रहे। आज जब वे जा चुके हैं, उनकी यह आरती हमारी थाती है, विरासत है।

उनका समूचा जीवन एक आधुनिक ऋषि का था, जो जल यज्ञ में आपादमस्त डूबा नहीं, रमा था। जिन लोगों ने थोड़ा बहुत भी वैदिक ग्रंथों के पृष्ठों को उलटा-पुलटा है, वे जानते होंगे कि निसर्ग वरदानों को लेकर ऋषियों की दृष्टि क्या रही है। जल हो, प्रकाश हो, अग्नि हो या फिर आकाश - सबके प्रति एक कृतज्ञता का भाव, न कि अहम्मन्यता, दंभ और स्वामित्व का मुगालता। देश की नदियों की कलकल से जो ध्वनि संगीत फूटता है, उसे उन्होंने ध्यान देकर सुना था।

मेरे जैसे छोटे से हिन्दी लेखक और भाषा सेवक के लिए जो एक और बड़ी बात सीखने वाले वे कर गए हैं। वह उनकी भाषा और शैली है। समकालीन हिन्दी को अनुपम मिश्र की ओर से यह बहुत बड़ा उपहार है। उनसे पहले मुझे आचार्य रजनीश उर्फ ओशो का गद्य आकृष्ट करता था। ऐसा बोलना कि कठिन से कठिन भी आसान हो उठे। गंभीर से गंभीर सहज-सुगम लगे। इससे भी कहीं अधिक उसमें निहित सोच हमारे सारे ठिकानों पर पहुँच हमारी ठहरी हुई सोच को हिलाने-डुलाने लगे। हम अपने भीतर ही अपना एक नया अवतार अनुभव करने लगें। यंत्र मानव से गतिशील सचेत मानव की यात्रा। यही तो उनकी शैली का कमाल है।

एक और लेखक जिसे इस वक्त याद करना चाहता हूं वह 'सौदर्य की नदी नर्मदा' का सृष्टा है। उसके गद्य में कविता है। वह हमें साक्षात्कार कराता है। हमें नर्मदा-तर के रंगारंग प्रवाहपूर्ण जीवन में अपने साथ शरीक कराता हुआ। प्रकृति और लोकजीवन के अहरह संगीत का बोध कराता है। गो कि अमृतलाल जी बेगड़ की मातृभाषा गुजराती है, फिर भी जबलपुर ने उन्हें जो भाषा सौंपी है, वह वही हिन्दी है जिसकी मैं चर्चा कर रहा हूँ।

मैं जानता हूँ यह सहज साधना कितनी कठिन है। ठीक सहज को साधने जैसी। अनुपम ने इसे कैसे साधा कहाँ से साधा, कैसे सिद्ध किया, इसे वही जानें। हम तो बस इतना जानते हैं कि साधना तो पड़ता है। इस संदर्भ में सोच इतना भर रहा हूँ कि उन्होंने कुछ तो घर-परिवार कुछ पास-पड़ोस और कुछ उन आंचलिक यात्राओं के बल पर अर्जित और सिद्ध किया होगा जिन्होंने उन्हें बार-बार आलोकित किया होगा। उनकी शैली में गहरी समझदारी और भरोसेमंद, आत्मीयता है। अपनों के बीच पानी की किस्सागोई है। ऐसी कि जिसे किसी अबोध जिज्ञासु की तरह सुनना पड़ता है। इसमें थकान इसलिए नहीं आती कि यह किस्सा हमारे अस्तित्व की बुनियाद से जुड़ा है। इसकी अनसुनी करने पर हम बुरी तरह मारे जाएंगे। अनुपम मिश्र ने इसी आपद-मृत्यु से हमारी रक्षा करने के ख्याल से यह साधना की। इस साधना में वे अगर काम आए तो यह किसी शहादत से कम नहीं है।

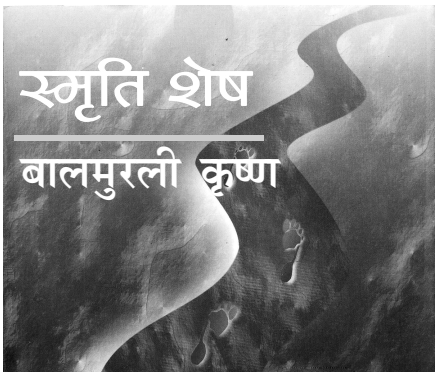

विलक्षण संगीतकार

अस्मिता

भारतीय संगीत के इतिहास में 22 नवंबर, 2016 एक ऐसे दिन के रूप में याद किया जायेगा जिस दिन हिन्दुस्तानी और कर्णाटकीय दोनों संगीत शैलियों के रसिकों में समान रूप से लोकप्रिय रहे जीनियस संगीतकार, गायक, वादक डॉ. मंगलमपल्ली बालमुरली कृष्ण ने इस संसार को अलविदा कहा। जुलाई, 1930 को आंध्र प्रदेश के, पूर्वी गोदावरी जिले के संकरागुप्तम् में जन्में मंगलमम्पल्ली बालमुरली कृष्ण को संगीत के संस्कार घर में ही मिले। उनके पिता बांसुरी, वॉयलिन तथा वीणा आदि वाद्यों के लोकप्रिय वादक थे। माता भी वीणा की प्रवीण वादिका थी। बालमुरली कृष्ण की माता का निधन उनके बचपन में ही हो जाने के कारण इनका विकास इनके पिता की देख-रेख में हुआ। पिता ने संगीत के प्रति इनकी बढ़ती अभिरुचि को देखकर त्यागराज की परम्परा के प्रतिष्ठित कलाकार पी. रामकृष्ण नैय्या पंतलु के शिष्यत्व में इन्हें सौंप दिया।

बालमुरली कृष्ण ने उनकी देख-रेख में संगीत की गहन साधना की और सिर्फ आठ वर्ष की उम्र में विजयवाड़ा में आयोजित त्यागराज आराधना में अपनी एक सम्पूर्ण प्रस्तुति देकर लोगों को अचंभित कर दिया। उसी समारोह में उपस्थित सुप्रसिद्ध हरिकथा गायक मंसुरी सूर्यनारायण मूर्त्ति ने तभी यह घोषणा कर दी थी कि यह बालक (बाल) आगे चलकर कृष्ण की मुरली बनेगा। और, उनकी भविष्यवाणी सच साबित हुई। बालमुरली अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे, यही कारण था कि सिर्फ 15 वर्ष की उम्र में 72 मेलकर्त्ता रागों में वे न केवल साधिकार गायन करने लगे थे बल्कि इन रागों में कृतियों की रचना भी करने लगे थे। 1952 में उनकी स्वरचित रचनाओं का एक संकलन जनक राग मंजरी नाम से प्रकाशित हुआ तो 'रागांग रावली' संगीत रेकार्डिंग कंपनी ने उनकी कृतियों के 9 अलबम भी बनाये।

इसी समय वे कंजीरा, मृदंगम् तथा वॉयलिन जैसे साज़ों को भी साधने लगे। यह एक बहुत कठिन काम था कि जिस समय आप एक क्षेत्र में सफलताओं के सोपान पर अग्रसर हैं, उसी समय आप अपना क्षेत्र और दिशा बदल दें। लेकिन बालमुरली ने ऐसा कुछ नहीं किया। वे सारी विधाओं को साथ लेकर चलते रहे। एक की मदद दूसरे में लेते रहे। उन्होंने वॉयलिन पर न केवल अनेक प्रतिष्ठित संगीतकारों की संगत की बल्कि अपना स्वतंत्र कार्यक्रम भी पूरी परिपक्वता के साथ अनेक मंचों पर दिया।

बालमुरली कृष्ण की संगीत यात्रा पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कोई निश्चित दिशा नहीं है। वह अपना रास्ता खुद बनाते रहे। किसी सागर की वेगवती, उद्दाम लहरों की तरह वह अपनी दिशायें, रास्तों और आयाम का निर्माण स्वयं करते रहे क्योंकि, उनके अंदर प्रतिभा का जो ज्वालामुखी धधक रहा था, उसे किसी सीमित दायरे में समेटना संभव ही नहीं था। तभी तो एक शास्त्रीय गायक, फिल्मी पार्श्वगायक, वॉयलिन वादक, मृदंगम् वादक, कंजीरा वादक के साथ-साथ गीतकार और संगीतकार के रूप में भी उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय बार-बार दिया था। उन्हें इस बात का भी श्रेय है कि कर्नाटकीय संगीत में परम्परा पालन के नाम पर जड़ें जमाती जा रही जड़ता को तोड़कर उन्होंने उसमें नवचेतना का संचार किया

प्रयोगधर्मी अनुसंधानकारी कार्यों के लिए शुरू के दिनों में उनकी काफी आलोचनायें भी हुई... उन पर टीका टिप्पणी भी हुई... और उनका मुखर विरोध भी हुआ। लेकिन, वे अपना काम करते रहे... और लोग उनके अनुगामी बनते रहे। उन्होंने हिन्दुस्तानी और कर्नाटकीय संगीत के बीच की दूरियों को पाटने का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। और यही कारण था कि पं. भीमसेन जोशी, विदुषी किशोरी अमोणकर, पं. हरि प्रसाद चौरसिया और पं. अजय चक्रवर्ती, पं. रोनू मजूमदार आदि के साथ वे यादगार सांगीतिक जुगलबंदी कर पाये।

था। कर्नाटकीय संगीत में प्रयुक्त स्वरों की शुष्कता को त्यागकर उसमें सरसता का समावेश करने का श्रेय भी उन्हें ही है। गणपति, सर्वश्री, महती, लवांगी, सिद्धी, सुमुखम और ओम्कारी आदि जैसे रागों को मुख्य धारा से जोड़कर लोकप्रियता की ओर मोड़ने का महत्वपूर्ण काम भी उन्हीं के द्वारा हुआ था। उन्हें भद्राचल रामदास और अन्नमाचार्य की रचनाओं को लोकप्रिय बनाने का सम्मान भी प्राप्त है।

उन्होंने तेलुगु, संस्कृत, कन्नड़ और तमिल आदि भाषाओं में 400 से अधिक रचनायें रची हैं। इनमें भक्ति गीत सहित वर्णम्, कृति, जावलि और तिल्लाना आदि प्रमुख हैं। बालमुरली की मातृभाषा तेलुगु है लेकिन उन्होंने मलयालम, हिन्दी, बंगला और पंजाबी आदि भाषाओं के गीतों में भी स्वर दिया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की अनेक रचनाओं को उन्होंने प्रभावशाली ढंग से गाया था। फ्रेंच भाषा में भी गाया और एक दो बार ज़ाज फ्यूजन में भी साथियों के आग्रह पर काम किया है। ए.वी.एम. प्रोडक्शन की फिल्म भक्त प्रहलाद में उनके द्वारा निभाई गई नारद की भूमिका खूब प्रशंसित हुई थी। इसके बाद तो उन्होंने कई फिल्मों में चरित्र भूमिकायें निभाई और गाने भी गाये।

उन्होंने सती सावित्री, जयभेरी, कर्ण, नर्त्तनासल, दोरिकिते दोगाण पल्नाती युद्धम, भक्त प्रहलाद, अंदाला रामुडु, श्रीराम अन्जनेया युद्धम, हमसागीथे, मुथ्याला मुग्गु, कुरूक्षेत्रम्, गुप्पेदु मानसू, एंते मोहंगल पूवानिजु आदि शंकराचार्य, मेघसंदेसम्, मध्वाचार्य, स्वाति तिरूनाल, मुथिनाहारा, भारथम्, भगवद्गीता, प्रियामैना श्रीवारू जैसी फिल्मों में भी भावपूर्ण गायन किया है।

संगीत के चतुर्दिक प्रचार-प्रसार की दिशा में भी वे लगातार अग्रसर रहे। उनके सहयोग एवं समर्थन से स्वीट्जरलैंड में एकेडमी ऑफ परफार्मिंग आर्ट्स एंड रिसर्च गतिशील है, जहां संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में भी काम होता है। डॉ. बालमुरली कृष्ण ने 'एम.बी.के. ट्रस्ट' के माध्यम से भारत में भी संगीत के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया है। इसी ट्रस्ट के द्वारा 'विपंची' नामक एक संगीत और नृत्य की संस्था भी चल रही है। प्रयोगधर्मी अनुसंधानकारी कार्यों के लिए शुरू के दिनों में उनकी काफी आलोचनायें भी हुईं... उन पर टीका टिप्पणी भी हुई... और उनका मुखर विरोध भी हुआ। लेकिन, वे अपना काम करते रहे... और लोग उनके अनुगामी बनते रहे। उन्होंने हिन्दुस्तानी और कर्नाटकीय संगीत के बीच की दूरियों को पाटने का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। और यही कारण था कि पं. भीमसेन जोशी, विदुषी किशोरी अमोणकर, पं. हरि प्रसाद चौरसिया और पं. अजय चक्रवर्ती, पं. रोनू मजूमदार आदि के साथ वे यादगार सांगीतिक जुगलबंदी कर पाये।

यह प्रसन्नता का विषय है कि डॉ. एम. बालमुरली कृष्ण के महत्वपूर्ण सांगीतिक योगदानों को संगीत समाज ने समय रहते पहचाना और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें पद्मश्री, पद्मभूषण और पद्मविभूषण जैसे अलंकरणों से अलंकृत किया। देश के कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किया था। यूनेस्को द्वारा उन्हें महात्मा गाँधी रजत पदक मिला था तो फ्रेंच सरकार ने उन्हें सिविलियर'ऑफ द आर्डर दिस आर्ट्स एट दिस लेटर्स' के खिताब से नवाज़ा था। वे आकाशवाणी और दूरदर्शन के सर्वोच्च श्रेणी के कलाकार तो थे ही उन्हें सर्वश्रेष्ठ फिल्म पुरुष पार्श्व गायक और सर्वश्रेष्ठ शास्त्रीय संगीत गायक का सम्मान भी उन्हीं के नाम था। उन्हें ग्लोबल इंडियन म्यूजिक एकेडमी अवार्ड भी मिला था। संगीत कला सारथी, संगीत विरंची और केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी सम्मान के साथ-साथ संगीत कलानिधि और कलाशिक्षा मणि जैसे कई अन्य राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मान-सम्मान भी उनके नाम दर्ज हैं।

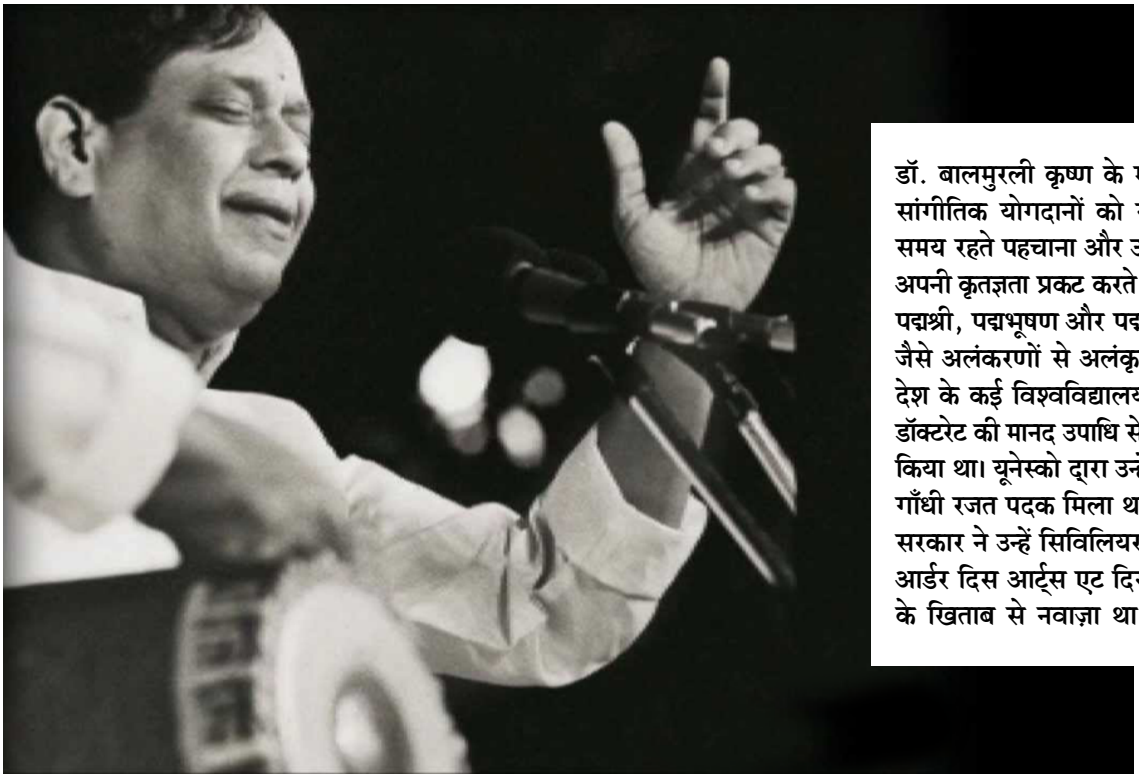

डॉ. बालमुरली कृष्ण के महत्वपूर्ण सांगीतिक योगदानों को समाज ने समय रहते पहचाना और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें पद्मश्री, पद्मभूषण और पद्मविभूषण जैसे अलंकरणों से अलंकृत किया। देश के कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किया था। यूनेस्को द्वारा उन्हें महात्मा गाँधी रजत पदक मिला था तो फ्रेंच सरकार ने उन्हें सिविलियर'ऑफ द आर्डर दिस आर्ट्स एट दिस लेटर्स' के खिताब से नवाज़ा था।

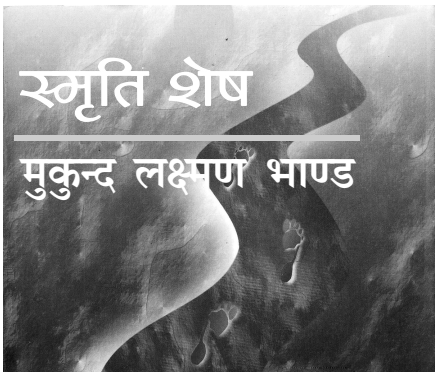

मनुष्यता की महक

सुनील मिश्र

भाण्ड साहब पर लिखते हुए एक साथ अनेक बातें याद आती हैं। व्यक्तिश: भावुक इसलिए हो रहा हूँ कि उन पर यह श्रद्धांजलि मध्यप्रदेश सन्देश में प्रकाशित होने जा रही है। मध्यप्रदेश सन्देश के सम्पादक मण्डल में शीर्ष पर जो नाम प्रकाशित हैं, वे आरम्भ से ही इस महत्वपूर्ण पत्रिका का हिस्सा रहे हैं। यह संयोग ही है कि आज भी मध्यप्रदेश सन्देश उन्हीं के विचारों और दृष्टि से समृद्ध एक बहुआयामी सांस्कृतिक पत्रिका है जिन्होंने इसकी नींव से लेकर दीवार उठाने और छत छाने का काम किया है।

टिप्पणीकार की लेखकीय यात्रा में भी मध्यप्रदेश सन्देश का प्रमुख योगदान है और पीछे देखने पर और भावुक हो जाता हूँ कि जब वर्ष 1986-87 में इस पत्रिका में प्रकाशित होना शुरू हुआ तब सन्देश कार्यालय में अपने लिए विषय और मार्गदर्शन प्राप्त करने अनिल माथुर जी, मनोज खरे जी, सुरेश गुप्ता, ध्रुव शुक्ल जी के पास आया करता था। उस समय अनेक बार ऐसा हुआ कि कमरे में भाऊ साहब, कई बार भाण्ड साहब आकर खड़े-खड़े तैयारियों के बारे में पूछते थे। उनके सम्मान में सब खड़े हो जाते, मैं भी। भाण्ड साहब मध्यप्रदेश सन्देश के आकल्पक थे जो अपने काम में समयबद्धता को लेकर बहुत सजग और सक्रिय रहा करते थे। सन्देश में जाने वाली सामग्री और उसके आकार, प्रयुक्त होने वाले छायाचित्रों, उनके चयन और संकलन को लेकर उनकी बातें सुना करता था। वहीं उनसे मेरा परिचय भी हुआ। वे पितृतुल्य ही थे और उसी स्नेह से पूछा करते थे, इस बार किस पर लिख रहे हो, कब तक लिख कर दोगे या कई बार लिखा हुआ जो छपा करता था उस पर भी अपनी राय देते थे।

भाण्ड साहब ही मुझसे कलाकारों से बातचीत करने का सुझाव दिया करते थे। उनका कहना होता था कि सांस्कृतिक गतिविधियों पर ब्यौरानुमा लिखते हुए यदि कलाकारों से बातचीत भी कर लिया करो, कार्यक्रम में सहभागिता को लेकर उनकी सोच, अवसर मिलने पर उनकी खुशी या अभिव्यक्ति भी शामिल हो तो तुम्हारा लिखा और सजीव हो जायेगा और उसमें लोगों की रुचि बढ़ेगी। मैं उस तरह से उनकी बात को समझकर अपने काम में परिष्कार किया करता था। भाण्ड साहब को सामग्री तैयार करके आकल्पन के लिए समय पर सौंपनी है, इसको लेकर सम्पादकीय परिवार में मेरे सभी अग्रज सक्रिय और तत्पर रहा करते थे। उस सबके साथ मुझे जो आँखों देखा सुखद अनुभव है, वह यह है कि उप और संयुक्त संचालक पद को धारण करने वाले ये गुणीजन दोपहर का भोजन करने अपने सहयोगियों के कमरे में खुद आ जाया करते थे। खाना सब साथ बैठकर खाया करते थे। सम्बन्धों का वैसा लोकतंत्र और अपनापन आज संस्मरणों में याद करने तक ही सीमित रह गया है।

भाण्ड साहब की कला यात्रा ग्वालियर से भोपाल अनेकानेक अनुभवों से भरी रही है। भारतीय स्वतंत्रता के बाद कला के विकास में मध्यप्रदेश के भाण्ड साहब का योगदान हम

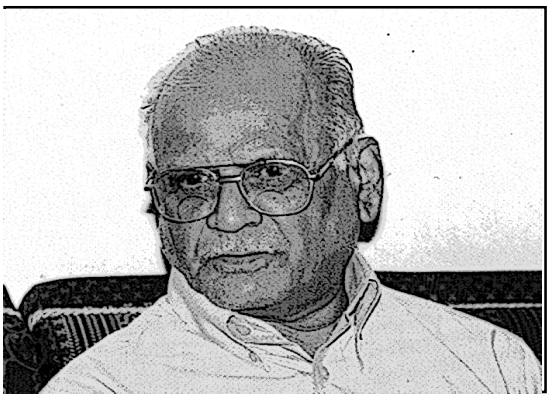

उस तरह आँखें कि उन्होंने सर्जना को सारे के सारे बदलावों के बीच एक नयी और मौलिक दृष्टि देने का काम किया। वे पेंटिंग, पोर्ट्रेट, लैण्डस्केपिंग, मूर्त और अमूर्त सर्जना में अपने गहन अनुभवों और संस्कारों से बहुत सारा अनूठा और प्रेरकीय रचते थे। उन्हें अपने समकालीन कला गुरुओं विष्णु

कला के इतिहास के प्रति उनकी रुचि और जिज्ञासा अनन्त थी। ग्वालियर कलम, चित्रकला की एक पुरानी परम्परा को लेकर उनका शोध अत्यन्त प्रामाणिक है। लक्ष्मण भाण्ड नयी पीढ़ी को बड़ी आशाओं की दृष्टि से देखते थे। वे मानते थे कि सच्ची और सार्थक विरासत की संवाहक यही पीढ़ी है जिसे यदि सही मार्गदर्शन, धीरज का पाठ और अपने काम के प्रति लगन का बोध कराया जाये तो इस पर समय का विश्वास कायम किया जा सकता है। यह विश्वास उन्होंने जीवनपर्यन्त बनाये रखा।

चिंचालकर, सैयद हैदर रज़ा, गायतोण्डे और पलसीकर जी का सर्जनात्मक सान्निध्य प्राप्त था तथा अनेक बार ऐसे अवसर आये जब भाण्ड साहब के इन सभी से रचनात्मक विमर्श हुए। दरअसल भाण्ड साहब की सर्जनात्मक उपस्थिति को हम ऐसे मानें कि वे नवस्थापित मध्यप्रदेश में, तब बने इस नये राज्य की सांस्कृतिक पहचान को गढ़ने और उसके लिए रचनात्मक परिश्रम करने वाले ऐसे कलाकार थे जिनका मध्यप्रदेश को सदैव ऋणी होना चाहिए, रहेगा।

अपने समय के मूर्धन्य चित्रकार और कलाकार मुकुन्द सखाराम भाण्ड के सुपुत्र लक्ष्मण भाण्ड ने अपने पिता से कला की विरासत को एक आज्ञाकारी पुत्र और शिष्य की तरह आत्मसात किया। उन्होंने जे जे स्कूल ऑफ आर्ट्स से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के बाद वे पंजाब में कला के प्राध्यापक होकर पढ़ाने चले गये। कुछ समय कला की शिक्षा प्रदान करते हुए भाण्ड साहब को मध्यप्रदेश ने याद किया और वे राज्य के निमंत्रण पर लौट आये। तब जनसम्पर्क विभाग, सूचना एवं प्रशासन संचालनालय या पब्लिसिटी डिपार्टमेण्ट हुआ करता था जहाँ उन्होंने कलाकार के रूप में अपनी सेवाएँ देना शुरू किया। नवस्थापित राज्य के प्रचार विभाग में भाण्ड साहब की रचनात्मक सक्रियता और दृष्टि का लाभ क्षेत्रीय प्रचार के विशेष शासकीय अनुषंग के रूप में लिया जाने लगा जहाँ शीघ्र ही उन्होंने अपनी दक्षता और कलात्मक सोच से शासकीय प्रचार की अपनी बड़ी सीमित सी प्रदर्शनकारी क्षमताओं को एक अलग ही रूप प्रदान करने का काम किया। भाण्ड साहब ने शासकीय काम को भी प्रदेश के कलाकारों की महत्ता से जोड़ा और उस पूरे के पूरे अभियान को ही वह रंग देने का काम किया जिसके कारण शासकीय उपक्रम और उनके प्रतीक, उनके छायाचित्र या उनकी फिल्मों को जनसुरुचि प्राप्त होना शुरू हुई। निश्चित रूप से इस काम में उनके समकालीन, सहोदर और सहयोगियों की एक महत्वपूर्ण भूमिका थी जिनका उल्लेख शुरू में आया है और आज वे आधुनिक तकनीक और संसाधनों के साथ किसी भी काम को समयबद्धता और अनेक बार तात्कालिकता में पूरा कर पा रहे हैं तो उसके पीछे कहीं न कहीं भाण्ड साहब और उनके समकालीन सहृदय अधिकारियों, अभिभावकों की सोच शामिल है।

भाण्ड साहब ने यह सब काम करते हुए 1964 में अपने पिता की स्मृति में एक कला विद्यालय की भी स्थापना की जिसके माध्यम से भोपाल में कला को लेकर एक उत्साहसम्मत वातावरण बना और तब की पीढ़ी ने अभिव्यक्ति और सर्जना की उस पूरी दृष्टि से सीखना शुरू किया जो भाण्ड साहब के सुदीर्घ अनुभवों से होकर उन तक सच्ची शिष्य परम्परा के रूप में प्रवाहित हुआ। भाण्ड साहब की सर्जना में भारतीय परम्परा, मूल्यों और स्मृतियों के वे सरोकार प्रमुख होते थे, जिनकी जड़ें पीढ़ी दर पीढ़ी अपना कुछ न कुछ अंश लेकर चलती थीं। अपनी कलाकृतियों के माध्यम से उन्होंने धीमे-धीमे क्षरित होती मनुष्यता, वातावरण और परिवेश को भी रेखांकित करने का काम किया था, जो वास्तव में एक प्रतिबद्ध कलाकार के रूप में उनको समाजचेता के रूप में भी देखता था। भारतीय शास्त्रीय संगीत और कला पर एकाग्र उनकी चित्र श्रृंखला इण्डियन रागमाला को अपने समय में बहुत सराहा गया था। इस अनोखे काम के लिए लम्बे समय उनकी चर्चा होती रही थी। समानान्तर कला के अभिप्रायों के साथ भाण्ड साहब की उपस्थिति को इसलिए भी रेखांकित किया जाना ज़रूरी लगता है कि वे कला के हमारे बीच ऐसे आदरणीय व्यक्तित्व रहे हैं जो मन से बेहद उदार और विनम्र थे। कला के इतिहास के प्रति उनकी रुचि और जिज्ञासा अनन्त थी। ग्वालियर कलम, चित्रकला की एक पुरानी परम्परा को लेकर उनका शोध अत्यन्त प्रामाणिक है।

लक्ष्मण भाण्ड नयी पीढ़ी को बड़ी आशाओं की दृष्टि से देखते थे। वे मानते थे कि सच्ची और सार्थक विरासत की संवाहक यही पीढ़ी है, जिसे यदि सही मार्गदर्शन, धीरज का पाठ और अपने काम के प्रति लगन का बोध कराया जाये तो इस पर समय का विश्वास कायम किया जा सकता है। यह विश्वास उन्होंने जीवनपर्यन्त बनाये रखा। आज वे नहीं हैं, हमारी स्मृतियों में चिरस्थायी हैं लेकिन उसके साथ-साथ वह पीढ़ी उनके स्वप्नों और आकांक्षाओं को पूर्ण करने का विनम्र प्रयत्न कर रही है जिसने उनसे बहुत कुछ सीखा। स्वाभाविक रूप से अपने अनेकानेक महती कार्यों के साथ इस मध्यप्रदेश सन्देश को भी एक खूबसूरत और चित्ताकर्षक कलात्मक स्वरूप में लाते हुए भाण्ड साहब के शिष्यगण।

भोपाल के भूगोल में 'कलाश्री' रचना नगर, ज़मीन या इमारत का एक हिस्सा हो सकता है पर अपने नाम को सार्थक करते इस आशियाने में 'वामन' नाम की संज्ञा को आप किसी विराट सृजन में लीन होते देख सकते थे। छायाकला के विश्व में अपनी ख़ास दखल रखने वाले वामन ठाकरे ने हालाँकि चौरासी की पकी उम्र में कैमरे से तौबा कर ली थी और डार्क रूम को वे बहुत पीछे छोड़ आए थे लेकिन मन के कैमरे से जीवन की भूली-बिसरी छवियों के अक्स समेटना उन्हें आखिर तक रास आया। घर की ऊपरी मंज़िल का एक कमरा पुरानी तस्वीरों और कबाड़ हो चुकी चीज़ों को तरतीब से संजोकर तैयार की गई कलाकृतियों का ज़खीरा था। यही वो एकांत परिसर था जहाँ सिर पर केप लगाये ठाकरे किसी मनचाही ओझल आकृति को हासिल करने का जतन करते देखे जा सकते थे। म.प्र. के गठन के बाद महाराष्ट्र से आकर भोपाल में नौकरी की और साठ के दशक से ही उनकी फोटोग्राफी ने लोगों को आकर्षित करना शुरू कर दिया था। कलात्मक छायांकन उनकी ख़ासियत थी। दोनों ही स्तरों पर उनकी फोटोग्राफी बेमिसाल बनी। भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री अलंकरण प्रदान किया, मध्यप्रदेश ने शिखर सम्मान। वे अंतर्राष्ट्रीय सम्मानों से भी विभूषित किये गए। वे अपने नाम, काम और शोहरत को लेकर एक हद तक महत्वाकांक्षी भी थे।

मेरी ठाकरेजी से अनेक मुलाकातें रही हैं। लंबी वार्ताएं, वाद-विवाद भी होते रहे। सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' ने करीब डेढ़ दशक पहले जब उन पर एकाग्र विशेषांक का प्रकाशन किया तो विदिशा के वरिष्ठ फोटोग्राफर शरद श्रीवास्तव के संग ठाकरेजी से कई बैठकों में संवाद हुआ। यह बातचीत उनके जीवन और रचनात्मक रुझान के साथ उनकी छाया कला के अनेक रहस्यों से बावस्ता होने का विरल संयोग भी बनी। इसी लंबे वार्तालाप के ज़रिये जानते हैं ठाकरेजी का मनोगत।

कलात्मक छायांकन का अनूठा चितेरा

विनय उपाध्याय

अंग्रेजी में कहावत है- 'बॉर्न एज ए सिलस्पोन।' मेरे घर में, मेरे पूर्वजों में चित्रकार या फोटोग्राफर कोई व्यक्ति नहीं था। मेरे घर में यह कला मुझसे से ही शुरू होती है। यूँ कहिए कि मैं इस मामले में जन्मजात कलाकार रहा और वहाँ से मेरी कला शिक्षा शुरू होती है। कला के क्षेत्र में शिक्षण लेने के पहले मैं घर में ड्राइंग पेपर या कैनवास का उपयोग नहीं करता था क्योंकि मैं बहुत छोटा था उस समय। पाँच साल-छः साल का। दीवारों पर कोयले से आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनाकर चित्र उकेरने की कोशिश करता था।

बुनियादी तौर पर मैं चित्रकार ही था लेकिन कुछ लोगों की गलती के कारण मैं चित्रकला से फोटोग्राफी की ओर मुड़ा। दरअसल एक वाक्या है बहुत पुराना। ललित कला की पेंटिंग एक्जीबिशन में मैंने तीन पेंटिंग भेजे थे। तीनों रिजेक्ट हुए और जब मुझको दिल्ली

जाने का मौका आया तो मैंने सोचा कि चलो, लगे हाथ वहाँ से अपनी पेंटिंग उठा लें। जब मैं ललित कला के दफ्तर गया और मैंने अपनी पेंटिंग की माँग की तो वे अपने गोडाउन में ले गये। वहाँ मैंने पाया कि मेरे तीनों पेंटिंग वैसे के वैसे ही बिना पैकिंग खोले पड़े थे। बस, उसी समय से मेरे दिमाग में फितूर ने जगह ली और मैंने तय कर लिया कि अब पेंटिंग में भविष्य में काम करने की बजाय फोटोग्राफी में काम करें। और जैसे ही दिल्ली से वापस आया, ठान लिया कि अब पेंटिंग को तिलांजलि दें।

कलर में विजुअल आस्पेक्ट्स थोड़ा बढ़ गया है। लेकिन कलात्मकता जिसको कहते हैं वह कम हो गयी है बल्कि खत्म हो गयी है। क्योंकि क्रिएटिविटी आदमी खुद के डार्करूम में ब्लैक एण्ड व्हाइट में जितना दिखाता है उतना कलर में नहीं। मैं फिर कहूँगा कि कलर लैब में फोटोग्राफर नहीं, मशीन को चलाने वाला आदमी होता है जो गुणवत्ता पुरानी ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी में थी आज कलर में नहीं है।

जाड़े की एक सुबह : ठाकरे की ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी की मिसाल यह तस्वीर

दैनिक, साप्ताहिक या पाक्षिक अखबार में फोटो या पेंटिंग छपना, बात अलग है लेकिन देश की एक ज़िम्मेदार कला संस्था ललित कला अकादमी द्वारा प्रदर्शन और पुरस्कार का अवसर पाना प्रतिष्ठा की बात है। अगर मुझे योगदान करने का मौका मिलता तो वह बात कुछ और होती। संपादकों को पेंटिंग के बारे में गहरा ज्ञान हो यह ज़रूरी नहीं? वह तो उनका जो पृष्ठ है जिसमें कविता छपती है, कहानी छपती है, लेख छपते हैं उनको चित्रित करने के लिए फोटो या पेंटिंग का उपयोग आमतौर पर करते हैं। हाँ, यह ठीक है कि यदा-कदा उन्होंने फोटोग्राफी या पेंटिंग का पूरा पेज देकर सम्मानित किया है।

जब कोई आदमी शुरुआत में काम करता है तो अपनी कमियों की भरपाई के लिए दूसरे संपन्न व्यक्ति की तरफ देखता है। मेरे साथ कुछ वैसा हुआ नहीं। मेरा कोई ऐसा गॉड फादर नहीं था कि जिससे मैं कुछ सीखूँ, प्राप्त करूँ। शिक्षकों ने मुझे जो विद्या दी वह इतनी कारगर साबित हुई कि मुझको इधर-उधर देखने की ज़रूरत पड़ी नहीं। मुझे अपने ही मुँह से कहना पड़ रहा है कि शायद इतनी प्रतिभा मेरे भीतर थी कि मैं स्वयं अकेला उस बात को गढ़ सकूँ। और तो और, होता यह है कि जब आदमी दूसरे के पीछे लगता है उससे कुछ पाने के लिए, तो खुद अपनी ज़मीन भूल जाता है। अपने में क्या ख़ामियाँ हैं, अपने में क्या अच्छाई है, यह भूल जाता है और वह केवल नकलची बनने के रास्ते पर चलता है। मेरी एक महत्वाकांक्षा थी कि मैं अपनी स्टाइल में काम करूँ, अपनी स्कूल में काम करूँ। मैं अपनी विषयवस्तु रखूँ, टेकनिक मैं अपनी रखूँ ताकि मैं वामन ठाकरे कहलाया जाऊँ। और आज भी मेरे चित्र ऐसे हैं जिन्हें देखकर लोग कह सकते हैं कि यह ठाकरे का फोटो है। मेरे अदृश्य दस्तखत रहते हैं उसमें।

चित्रकारी हम केनवास पर रंग और ब्रश से करते हैं और फोटोग्राफी हम फोटोग्राफिक पेपर के ऊपर प्रकाश और रसायनों से करते हैं। कम्पोजीशन और टोनलिटी के जो नियम हैं वे सारे पेंटिंग के ही नियम हैं। बस, जो विजुअल इफैक्ट होता है, फोटोग्राफी में अलग होता है, पेंटिंग में कुछ अलग होता है। मेरा बेस पेंटिंग का रहा है। क्योंकि पेंटिंग से मुझको कम्पोजीशन के अच्छे तत्व मिले। पेंटिंग में कलर यूज़ करते हैं तो उसके टोन्स का आइडिया आया और ये सारी बातें अपने फोटोग्राफ में इन्क्लूड करने के लिए अच्छी सुविधा लगती है। मेरे फोटोग्राफ में पेंटिंग के ही सारे गुण होते हैं। लोग-बाग पूछते थे हमसे कि आप हिन्दुस्तान की फोटोग्राफी में ऐसे हैं दूसरों की तुलना में कि शुरुआत से ही चमकना चालू कर दिया। आपने ज़रूर किसी उस्ताद के हाथ के नीचे काम चालू किया है। ...तो मेरा उस्ताद केवल चित्रकला रहा है।

फोटोग्राफी एक आग है। मेरे भीतर वह ताकत आ गयी थी कि कौन-से आदमी का पोट्रेट बहुत बढ़िया मिलेगा। मुझे जो भी मॉडल पसंद आया, उनके पोर्ट्रेट लेने में कामयाब रहा। मैंने मॉडल का जो सिलेक्शन किया है जनरली चालीस-पचास साल के ऊपर वाले रहे। फोटोग्राफी में थोड़ी बहुत खुराफातियाँ भी होती हैं। फैशन फोटोग्राफी के नाम से लड़कियों का ही चयन किया। यह इसलिए कि पचास साल का जो अनुभव होता है वह आँखों में झलकता है। एक्सप्रेशन और

असली फन तो ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी में है

एक ज़माना था कि केवल ब्लैक एण्ड व्हाइट में फोटोग्राफी करते थे, आज कलर का ज़माना आ गया है। अभी कम्प्यूटर भी आया है। डिजिटल फोटोग्राफी होने लगी। पता नहीं और आगे भविष्य में क्या आयेगा! तो कहने का आशय यह कि प्रगति होती रहेगी। हम उसको रोक नहीं सकते। यह तो साथ-साथ चलेगा ही। पुरानी साधना में रियाज, मेहनत ज़्यादा करनी पड़ती थी और कोई भी चीज़ हासिल करने के लिए शार्टकट्स नहीं थे। शार्टकट्स से हम कोई अच्छी चीज़ प्राप्त भी नहीं कर सकते। उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ और पं. रविशंकर जैसे संगीतकारों को इतनी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए कितनी साधना करनी पड़ी होगी। वैसे ही आज ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी में जितना नाम है फोटोग्राफरों का उतना कलर में नहीं है। क्योंकि कलर में केवल कैमरा चाहिए और फिल्म लेने के लिए पैसे चाहिए, बाकी डेवलपिंग से लेकर प्रिंटिंग तक का सारा काम नॉन फोटोग्राफर करता है। वहाँ पर फोटोग्राफर नहीं, मशीन चलाने वाला आदमी होता है।

मूड कैप्चर करने में कोई दिक्कत नहीं आती। मेरा यही आधार रहा है कि बढ़िया पोट्रेट, बढ़िया माँसल सौन्दर्य वाले आदमी के तो मिलते ही हैं, साथ-साथ एक्सप्रेशन भी निकालने की भी आर्ट फोटोग्राफर में होनी चाहिए। सामने वाले आदमी को कौन-सा एक्सप्रेशन सूट होगा, कौन-से पोज सूट होंगे, कौन-सी लाइटिंग सूट होगी, यह सब मॉडल को सामने बिठाकर इमीडियेट करनी पड़ता है।

कलर में विजुअल आस्पेक्ट्स थोड़ा बढ़ गया है। लेकिन कलात्मकता जिसको कहते हैं वह कम हो गयी है बल्कि खत्म हो गयी है। क्योंकि क्रिएटिविटी आदमी खुद के डार्करूम में ब्लैक एण्ड व्हाइट में जितना दिखाता है उतना कलर में नहीं। मैं फिर कहूँगा कि कलर लैब में फोटोग्राफर नहीं, मशीन को चलाने वाला आदमी होता है जो गुणवत्ता पुरानी ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी में थी आज कलर में नहीं है। मैं जहाँ भी निर्णायक के रूप में जाता हूँ तो पहले की तुलना में ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफी की प्रविष्टियाँ कम पाता हूँ। दुर्भाग्य से फोटोग्राफी के अच्छे गुरुओं की कमी भी है।

सारी दुनिया मान चुकी है फोटोग्राफी को कला। हम अगर नहीं मानते तो यह हमारी कमी है। वैसे देखा जाय तो पिछले सालों की तुलना में अब लोग जागृत हो चुके हैं। ललित कला अकादेमी जो फोटोग्राफी का नाम तक नहीं लेती थी वह तक फोटोग्राफी की एक्जीबिशन करने लग गयी है। स्टेट लेबल पर कला परिषदें भी फोटोग्राफी एक्सीबिशन करने लगी हैं। तो यह फ़र्क तो आया है। आज महसूस कर रहे हैं लोग कि फोटोग्राफी भी एक आर्ट है। हाँ, सारे फोटोग्राफ कला के दायरे में नहीं आते। कुछ ही नियमबद्धता का पालन करते हैं। अब जैसे हम पं. रविशंकर या उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ को शास्त्रीय संगीत में शामिल कर सकते हैं लेकिन शादी के बैण्ड को हम कलात्मक संगीत के या शास्त्रीय संगीत की भाषा में नहीं ले सकते वैसे ही फोटोग्राफी भी है।

किसी भी कला को प्रगति पथ पर आरूढ़ करने के लिए समाज का जितना दायित्व है उतना ही शासन का भी है बल्कि शासन का कुछ ज़्यादा ही। राजा-महाराजाओं के ज़माने में जो काम ललित कलाओं की प्रगति के लिए हुआ है वह आज शासक वर्ग नहीं कर पा रहा है। आज हर काम में सबसे पहले दिखती है राजनीति, बाद में दूसरी चीज़ें। राजनेता उनके फायदे की पहले सोचते हैं; कलाकारों की बाद में। क्योंकि कलाकार से राजनीति को क्या मिलने वाला है?

चौहत्तर की बात है। मैं पहली बार विदेश गया। आर्थिक दृष्टि से भी कोई विशेष मजबूती वाली स्थिति नहीं थी। सारा का सारा पैसा लेकर मैं उड़ा। घर में छोटे-छोटे बच्चे थे उन्हें स्कूल में छोड़ते हुए। कलकत्ता तक मैं ट्रेन से गया। ट्रेन के बाद जब पहली बार प्लेन में बैठा तो फोटोग्राफी और पेंटिंग की सारी चीज़ें भूलकर एक ही बात ध्यान में आयी कि भगवान मेरी यात्रा सक्सेसफुल हो चाहे नहीं हो, मेरे छोटे-छोटे बच्चों का क्या होगा। उस वक्त मेरी पत्नी ने हौसला दिखाया और जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली।

सुरों की साधना तो सभी गायक करते हैं, लेकिन सरस्वती किसी-किसी के ही कंठ में निवास करती है। वाग्देवी ने मुबारक बेग़म के गले में ऐसी मिठास और कशिश भरी कि संगीत के पारखियों और कद्रदानों ने उन्हें 'राजस्थान की कोयल' की संज्ञा दे दी। साढ़े तीन दशक से चुपचाप बैठी यह 'कोयल' सदा के लिए ख़ामोश हो गई। मानो, अपना सबसे यादगार और सदाबहार तराना गुनगुनाते हुए संसार से विदा ले रही हैं- 'कभी तन्हाइयों में यूं हमारी याद आएगी.....'।

मुबारक बेग़म का अवसान राजस्थान के लिए ख़ासतौर से एक सुरीले युग और सुनहरे सिनेमाई अध्याय का समापन है। सिने संगीत के स्वर्ण काल में लोकप्रिय पार्श्व गायिका के रूप में उन्होंने न सिर्फ प्रदेश का प्रतिनिधित्व किया, बल्कि तीन दशक की लंबी पारी खेलकर राजस्थान का नाम भी रोशन किया। वे 'राजस्थानी कोयल' ही नहीं, राजस्थान की पहली पॉपुलर प्लेबैक सिंगर भी थीं। मुबारक बेग़म को आपा (दीदी) के संबोधन ने हमें हमेशा अपनापन और नाज़ का अहसास करवाया।

सुरीली हसरतों का सफ़र

एस.डी. सोनी

महान फिल्मकार विमल राय की दो क्लासिक्स में दो छोटे-छोटे गीत गाकर मुबारक बेग़म का नाम खूब चमका। एस.डी. बर्मन के संगीत निर्देशन में 'देवदास' में 'वो ना आएंगे पलटकर उन्हें लाख हम बुलाएं' और 'मधुमती' में सलिल चौधरी की धुन पर 'हम हाल-ए-दिल सुनाएंगे, सुनिए कि न सुनिए'। केदार शर्मा की कलम से निकली दर्दभरी दास्तां को उन्होंने इतने मनोयोग से गाया और स्नोहल भाटकर के सुरों ने ऐसा जादू जगाया कि यह गीत हर संगीत-प्रेमी के दिल में उतर गया, कालजयी बन गया।

अपने नाम के मुताबिक, उनकी ज़िंदगी मुबारक (भाग्यशाली) नहीं रही। ग़रीब मुस्लिम परिवार में पैदा हुई मुबारक को कम उम्र से ही सतत् संघर्ष करना पड़ा। शास्त्रीय संगीत की तरह ज़िंदगी में भी आरोह-अवरोह चलते रहे कलात्मक हवेलियों के लिए प्रसिद्ध, नवलगढ़ की मूल निवासी मुबारक बेग़म शेख का जन्म 5 फरवरी 1936 को अपने ननिहाल, झुंझुनूं में हुआ। (वैसे न तो उनकी जन्मपत्री थी, न ही उन्हें जन्मतिथि याद रही। यह उनके पासपोर्ट में दर्ज तिथि है।) उनके दादा अहमदाबाद में चाय की दुकान चलाते थे, जबकि उनके अब्बा और ताऊ वहीं फलों का ठेला लगाते थे। 1940 के आसपास उनके अब्बा अपने परिवार को लेकर अहमदाबाद सैटल हो गए। फिर मुंबई पहुंचे।

मुबारक बेग़म को गाने का शौक बचपन से था। वे उस ज़माने की जानी-मानी गायिका-नायिका नूरजहां की फैन रहीं, लेकिन उनके तरन्नुम और स्टाइल को कॉपी करना मुश्किल था लिहाज़ा वे सिंगिंग स्टार सुरैया के गीत अक्सर गाती गुनगुनाती रहती थीं। बताते हैं कि उनके अब्बा नज़ीर हुसैन को तबला बजाने का शौक था और वे तबले के पर्याय, अहमद जान थिरकवा के शागिर्द भी थे। मुबारक बेग़म के गाने के शौक को देखते हुए उनके अब्बा ने शुरू से सपोर्ट किया किराना घराने के उस्ताद रियाज़ुद्दीन खाँ और उस्ताद समद खां से मुबारक ने क्लासिकल गाना सीखा। उस दौरान वे रेडियो पर गाने लगीं रेडियो पर उनका गायन सुनकर वरिष्ठ संगीतकार अफ़ीक गज़नवी ने महज 11 साल की उम्र में उन्हें फिल्मों में गाने का ऑफर दिया। लेकिन रिकॉर्डिंग के दौरान लोगों की मौजूदगी में झिझक और घबराहट के मारे उनकी आवाज़ नहीं निकली। उनके अब्बा अपने परिचित के जरिए, विख्यात डायरेक्टर राम दरयानी से मिले, तो उन्होंने अपनी फिल्म 'भाई बहन' में श्यामसुंदर के संगीत निर्देशन में गाने का मौका दिया, पर यहाँ भी उनकी झिझक आड़े आई। मशहूर एक्टर-फिल्ममेकर याकूब 1949 में अपनी फिल्म 'आइए' में मुबारक बेग़म को दो गाने गवाने में कामयाब हुए। 'मोहे आने लगी अंगड़ाई आजा आजा बलम हरजाई' उनका पहला गीत था, जबकि 'आओ चलें चलें वहां, बोलो चलें जलें कहां' में उन्हें लताजी के साथ गाने का मौका मिला। संगीतकार थे शौकत ईदरी देहलवी, जो बाद में नाशाद के नाम से पॉपुलर हुए।

अगले साल, एम.ए. रउफ ने फिल्म 'बसेरा' में मुबारक बेग़म से चार गीत गवाए, वहीं 1951 में ईसराज बहल ने 'फूलों के हार' में सात गीत गाने और अपना टैलेंट दिखाने का भरपूर अवसर दिया। राजस्थानी संगीतकार जमाल सेन ने मुबारक बेग़म के सुर के गुर को पहचाना और कमाल अमरोही की प्रयोगात्मक पेशकश 'दायरा' में उनसे चार गीत गवाकर उनके कॅरियर में चार चांद लगाए। यह फिल्म तो नहीं चली, लेकिन 'दीप के संग जलूं मैं' और 'सुनो मोरे नैना' के अलावा मुहम्मद रफ़ी के साथ गाया गीत 'देवता तुम हो मेरा सहारा, मैंने थामा है दामन तुम्हारा' खूब चला। उस दौर में गुलाम मुहम्मद, अनिल विश्वास, राम गांगुली, के. दत्ता, सज्जाद हुसैन, ए.आर. कुरेशी, एस.एन. त्रिपाठी, एस. मोहिंदर, ख़य्याम, रोशन, मदन मोहन, सरदार मलिक, जयदेव, नारायण दत्त, शिवराम, धनीराम, सर्दुल क्वात्रा, इकबाल कुरेशी, रॉबिन बनर्जी, एस. किशन और कृष्ण कमल जैसे संगीतकारों ने यदा-कदा मुबारक बेग़म की आवाज़ का इस्तेमाल किया। सी-ग्रेड की फिल्मों के संगीतकार इकबाल ने उन्हें सबसे ज़्यादा मौके दिए।

महान फिल्मकार विमल राय की दो क्लासिक्स में दो छोटे-छोटे गीत गाकर मुबारक बेग़म का नाम खूब चमका। एस.डी. बर्मन के संगीत निर्देशन में 'देवदास' में 'वो ना आएंगे पलटकर उन्हें लाख हम बुलाएं' और 'मधुमती' में सलिल चौधरी की धुन पर 'हम हाल-ए-दिल सुनाएंगे, सुनिए कि न सुनिए'।

विख्यात रायटर-डायरेक्टर केदार शर्मा ने 1961 में अपनी फिल्म'हमारी याद आएगी' का टाइटल सॉन्ग 'पेट्रोल मनी' को लेकर लता मंगेशकर से नाराज़गी के बाद, मुबारक बेगम से जल्दबाजी में रिकॉर्ड करवाया था। केदार शर्मा की कलम से निकली दर्दभरी दास्तां को उन्होंने इतने मनोयोग से गाया और स्नोहल भाटकर के सुरों ने ऐसा जादू जगाया कि यह गीत हर संगीत-प्रेमी के दिल में उतर गया, कालजयी बन गया।

इधर, दिग्गज संगीतकार जोड़ी शंकर-जयकिशन ने दो साल बाद, राजेंद्र कुमार-जमुना अभिनीत 'हमराही' में भी मुबारक बेग़म से नायिका के लिए गवाने का साहस किया। मुहम्मद रफ़ी के साथ गाया यह टाइटल गीत 'मुझको अपने गले लगा लो' भी सुपरहिट रहा। इस कामयाब जोड़ी ने 'आरजू', 'तीसरी कसम' और 'अराउंड द वर्ल्ड' में भी उन्हें रिपीट किया। फिल्म 'शगुन' में ख़य्याम की धुन पर तलत महमूद के साथ मुबारक बेग़म का गाया डुएट 'कुछ अजनबी से आप हैं' भी लोकप्रिय हुआ। उसी दशक में उनसे कल्याणजी-आनंदजी ने 'नींद उड़ जाए तेरी,' 'वादा हमसे किया दिल किसी को दिया', दत्ताराम ने 'मेरे आंसुओं पे ना मुस्कुरा' और सी. अर्जुन ने 'बेमुरव्वत बेवफ़ा' जैसे असरदार गीत भी गवाए। हिंदी सिनेमा के अलावा, राजस्थानी, भोजपुरी, मराठी, पंजाबी, सिंधी और पाकिस्तानी फिल्मों में उन्होंने बखूबी गाया, वहीं ग़ैर-फिल्मी गीत, ग़ज़ल, नात, हम्द, नौहा आदि को भी अपनी मीठी आवाज़ से सुरीला बनाया। अपनी मातृभाषा राजस्थानी में गाए फिल्मी गीतों- ओळूं घणी आवै थांरी' (बाबा रामदेव) और 'मीत जौगीड़ो म्हारो मीत जोगीड़ो (बाबा रामदेव पीर) को जिसने एक बार भी सुना हो, वे उन्हें कभी नहीं भूल सकते।

दरअसल, 1965-66 के बाद मुबारक बेग़म का फिल्मी सफ़र सिमटने लगा। उनका मानना था कि फिल्म इंडस्ट्री की गंदी राजनीति, गुटबाजी और स्थापित गायिकाओं के वर्चस्व तथा एकाधिकार के चलते उनके गायन के अवसर छीनकर उन्हें साइडलाइन किया गया। उनकी आवाज़ में रिकॉर्ड हुए 'परदेसियों से ना अंखियां मिलाना', 'अगर मुझे ना मिली तुम' जैसे गीत दूसरी गायिकाओं से दुबारा गवा लिए गए। स्टार सिंगर्स के दबाव में बड़े संगीत निर्देशक उनसे सदा परहेज़ और किनारा करते रहे। नौशाद, सी. रामचंद्र, रवि, ओ.पी. नैयर, चित्रगुप्त और लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल ने मुबारक बेग़म से कभी कोई गीत नहीं गवाया। उनका आखिरी फिल्मी गीत बप्पी लाहिड़ी ने 'पांच कैदी' में 'दिल कैसे संभालोगे लाला' रिकॉर्ड किया था। फिल्मों में जब काम मिलना बंद-सा हो गया, तो मुबारक बेगम अवसाद में रहने लगीं।

‘हिंदी सिनेमा के अलावा, राजस्थानी, भोजपुरी, मराठी, पंजाबी, सिंधी और पाकिस्तानी फिल्मों में उन्होंने बखूबी गाया, वहीं ग़ैर-फिल्मी गीत, ग़ज़ल, नात, हम्द, नौहा आदि को भी अपनी मीठी आवाज़ से सुरीला बनाया। अपनी मातृभाषा राजस्थानी में गाए फिल्मी गीतों- ओळूं घणी आवै थांरी’ (बाबा रामदेव) और ‘मीत जौगीड़ो म्हारो मीत जोगीड़ो (बाबा रामदेव पीर) को जिसने एक बार भी सुना हो, वे उन्हें कभी नहीं भूल सकते।’

किसी तरह इस अवसाद से उबरकर, गुज़र-बसर के लिए मुबारक बेग़म को स्टेज शोज और प्राइवेट महाफ़िलों का सहारा लेना पड़ा। जब तक सेहत ने साथ दिया, मुंबई से बाहर, दूसरे शहरों में जाती रहीं- कभी दिल्ली, चंडीगढ़ तो कभी पूणे, नासिक, नागपुर। कभी अहमदाबाद, तो कभी हैदराबाद....। 2009 में जयपुर और 2010 में हैदराबाद में स्टेज प्रोग्राम देने के बाद उनके पैरों की तकलीफ़ बढ़ी, तो बाहर जाना छूट गया। मुंबई के ग्रांट रोड पर जिन्ना हॉल (कांग्रेस हाउस) के सामने वाली पुरानी जर्जर-सी बिल्डिंग के छोटे-से कमरे तक सीमित होकर रह गईं, जहाँ अपने भरे-पूरे परिवार के साथ वे 65 साल से रह रही थीं। (रेड लाइट एरिया स्थित इसी आशियाने में मुबारक आपा से 1994 में मुलाकात और इंटरव्यू लेने का मौका इन पंक्तियों के लेखक को मिला था।) वैसे, ज्यादातर मीडिया ने मुबारक बेग़म का दर्द, परेशानी और लाचारी समझने की बजाय उस माहौल, उनकी मजबूरी तथा मुफ़लिसी को ही हाइलाइट किया। इसका उन्हें बहुत मलाल रहा। बेगम अपनी इन तमाम खट-मीठी यादों के बीच आवाम की रूहों में अब भी रची-बसी हैं।

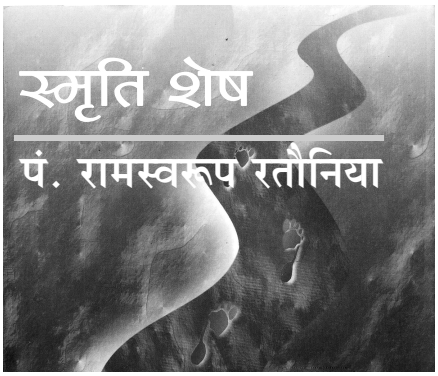

मध्यप्रदेश के एक मात्र टॉप ग्रेड कलाकार थे। आपने जहाँ देशभर के सुप्रतिष्ठित मंचों पर एकल तबलावादन कर सुयश अर्जित किया वहीं विश्वविख्यात कलाकार सर्वश्री पं. हरिप्रसाद चौरसिया, पंडित रामनारायण, पंडित जसराज, पं. जगदीश प्रसाद, विदुषी शोभा गुर्टू, विदुषी लक्ष्मीशंकर, विदुषी एन. राजम, विदुषी जरीन शर्मा, विदुषी सरिता देवी आदि के साथ संगति करने का गौरव प्राप्त किया।

पंडित रामस्वरूप रतौनिया के आकाशवाणी भोपाल में संगीत विभाग में कार्यक्रम अधिकारी के रूप में पदस्थ हुए तब मेरा उनसे परिचय हुआ। उनके आत्मीय व्यवहार ने पहली ही मुलाकात में मुझे बाँध लिया था। उन दिनों संगीत विभाग में उन्हें सुगम संगीत का प्रभार मिला हुआ था। मैं ए.आई.आर. 65 के अन्तर्गत अनुबंधित गीतकार हूँ इसलिए सुगम गायकों द्वारा मेरे गीतों का गायन सामान्यतः किया जाता था। प्रारंभिक दिनों में रतौनिया जी ने मुझे भी कुछ गीत अथवा संगीत रूपक लिखवाये जिन्हें तैयार कर प्रसारित किया गया।

वे जब उप-निदेशक बने तब उन पर कार्य का बोझ अधिक था। अधीनस्थ अधिकारी व कर्मचारी नित्य प्रति कोई न कोई समस्या लेकर आते, वे गंभीरता से सुनते और सदाशयतापूर्वक उनकी समस्या का समाधान करते ते। इसलिए सभी स्टाफ उनसे प्रसन्न रहता था। वे केन्द्र निदेशक के पद पर पदोन्नत हुए तब भी तथा बाद में पुनः प्रभारी केन्द्र निदेशक रहते हुए भी उनकी वाणी व्यवहार तथा आचरण में कोई फ़र्क नहीं आया। अपनी कार्यालयीन व्यस्तताओं के बीच भी वे अपने तबले का रियाज़ कभी छोड़ते नहीं थे।

थम गई जीवन की ताल

रामवल्लभ आचार्य

वे इस बात में सौभाग्यशाली थे कि उनका जन्म ग्वालियर के सुप्रसिद्ध तबला एवं पखावज वादक स्व. पं. नारायण प्रसाद रतौनिया के पुत्र के रूप में हुआ जिनसे आपने पारम्परिक रूप से तबला वादन का प्रसिक्षण प्राप्त किया। समय-समय पर आप प्रोफेसर लल्लू सिंह से भी मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे। आपने इंदिरा कला एवं संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ से तबला वादन में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर स्वर्ण पदक सहित एम.ए. की उपाधि अर्जित की। उन्होंने जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर से एम.ए. (हिन्दी) उपाधि भी अर्जित की थी। आपने निरन्तर अभ्यास से तबला वादन की बहुआयामी क्षमतायें आत्मसात कीं। यही कारण है कि आपके वादन में दिल्ली, पूरब, अजराड़ा आदि घरानों की विशेषतायें स्पष्ट झलकती हैं। आप तबला वादन में मध्यप्रदेश के एक मात्र टॉप ग्रेड कलाकार थे। आपने जहाँ देशभर के सुप्रतिष्ठित मंचों पर एकल तबलावादन कर सुयश अर्जित किया वहीं विश्वविख्यात कलाकार सर्वश्री पं. हरिप्रसाद चौरसिया, पं. रामनारायण, पं. जसराज, पं. जगदीश प्रसाद, प्रो. व्ही.जी. जोग, पं. कृष्णराव शंकर, पंडित कृष्णराव शंकर, पंडित विदुषी शोभा गुर्टू, विदुषी लक्ष्मीशंकर, विदुषी निर्मला अरुण, विदुषी एन. राजम, विदुषी जरीन शर्मा, विदुषी सरिता देवी आदि के साथ संगति करने का गौरव प्राप्त किया।

मृत्यु से कुछ दिन पूर्व भोपाल में प्रस्तुति देने पधारे पं. हरि प्रसाद चौरसिया जी के बाँसुरी वादन का संस्मरण विशेष उल्लेखनीय है। जब आप चौरसिया जी के साथ संगति करने बैठे तो उन्होंने पूछा कि क्या आप नौ मात्रा में बजायेंगे। रतौनिया जी ने हाँ कहा और पं. चौरसिया जी ने वह राग बजाया। जब राग समाप्त हुआ तो चौरसिया जी ने सराहना करते हुए कहा कि ऑफिस की फाइलों में दिनभर सिर खपाने के बावजूद आपने जिस कौशल का परिचय दिया उससे मैं अभिभूत हूँ। आपको तो सबकुछ छोड़कर केवल यही करना चाहिए।

उन्हें साहित्य एवं कविता की पर्याप्त समझ थी। आकाशवाणी भोपाल के स्वर्णजयंती वर्ष में जहाँ उन्होंने मुझसे आकाशवाणी गीत लिखने को कहा वहीं उन्होंने स्वयं स्वर्णजयंती गीत लिखा। ये दोनों गीत जब स्वर्ण जयंती समारोह में प्रस्तुत किए गये तो बहुत सराहे गये तथा पूरे एक वर्ष तक आकाशवाणी से प्रसारित किए गये। उनकी सदाशयता का प्रतिफल मुझे इस रूप में मिला कि मेरे गीत को तत्कालीन महानिदेशक ने आकाशवाणी गीत के रूप में मान्य किया तथा सभी केन्द्रों द्वारा प्रसारित करने के आदेश दिए। ऐसे मानवीय एवं हितैषी मित्र का असमय अवसान मेरी व्यक्तिगत क्षति है। वे उन विरले आकाशवाणी सेवकों में शुमार थे जिन्होंने हर छोटे-बड़े कलाकार को यथोचित मान-सम्मान दिया। सौहार्द्र और समरसता का वातावरण स्टूडियो में बनाये रखा। उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि।

बेहतर दुनिया के सपनीले रंग

आईसेक्ट के सहयोग से विहान ने रचा कलाओं का विश्व समागम

समय की अनमापी सीमाओं के ओर-छोर तक फैले जीवन और जगत के रहस्यों के फ़ासले तब सिमट जाते हैं जब कलाएँ अपने दामन में प्रेम और अपनापे की महक लिए देश-देशांतर की सैर पर निकल जाया करती हैं। भारत के हृदय प्रदेश (म.प्र.) की राजधानी भोपाल एक बार फिर इस पैग़ाम को सारी दुनिया में शाया करने की मिसाल बना।

भोपाल का युवा कला समूह विहान अपनी पहल विहान अंतर्राष्ट्रीय कला महोत्सव - 'वीफा' के साथ नए वर्ष की ओर जाते हुए नए पैग़ाम, नयी सोच, नयी दृष्टि और नए सपने की आहट लिए पेश आया। 29 दिसंबर 2016 से 8 जनवरी 2017 तक आयोजित 11 दिवसीय इस कला महोत्सव का मकसद यकीनन दायरों और सीमाओं के परे था। विभिन्न कला रूपों, विधाओं, संस्कृतियों और कलाकारों को एक साथ लाने और जोड़ने की पहल वीफा ने की। पर्यावरण संरक्षण जैसे वैश्विक मुद्दे को वीफा के माध्यम से संप्रेषित करना इस महोत्सव का ख़ास पहलू रहा।

सामाजिक उद्यमिता के क्षेत्र में अग्रणी संस्था आईसेक्ट तथा म.प्र. संस्कृति संचालनालय के मुख्य सहयोग से रचे इस 'वीफा' आग़ाज़ 29 दिसंबर को रवींद्र भवन से हुआ। एक्टिविस्ट मेक्सिको की मारिया पले, केप टाउन की सारा मचेट, स्पेन की थिएटर आर्टिस्ट अलिसिया कोराल, भोपाल (भारत) से चित्रकार सचिदा नगदेव, कथाकार-कवि संतोष चौबे और पत्रकार पंकज श्रीवास्तव की उपस्थिति में वीफा का उदघाटन हुआ। विहान के अध्यक्ष विनय उपाध्याय ने वीफा के मकसद की जानकारी से अवगत कराया। इस मौके पर विहान की वार्षिक पत्रिका विहानम का भी विमोचन किया गया। औपचारिक उद्घाटन के बाद स्पेन की कलाकार अलिसिया कोराल ने एकल रंगमंचीय प्रस्तुति दी। अलिसिया की प्रस्तुति 'पर सोना...पर सोनैर' उनकी डॉक्टरेट थीसेस के दौरान शोध का नतीजा जिसमें संस्कृत के श्लोकों और ध्वनि के माध्यम से शरीर और मन पर पड़ने वाले प्रभावों की अनुभूति का अनुभव है।

दूसरे दिन सुबह के सत्र में 'आर्ट एंड क्लाइमेट' विषय पर राज्य संग्रहालय में चर्चा का आयोजन किया गया। इस महत्वपूर्ण चर्चा में देश और विदेश के संस्कृतिकर्मियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और शिक्षाविदों ने भाग लिया जिनमें मेक्सिको से मारिया पले, केप टाउन से सारा मचेट, स्पेन से अलिसिया कोराल और भारत से विवेक जी शामिल थे। पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में आयोजित इस विशेष सत्र की चर्चा का केंद्र बिन्दु था 'कला पर्यावरण के प्रति जागरूकता और संवेदनशीलता के लिए किस तरह ज़रूरी है'।

गौरतलब है कि मारिया पले मेक्सिको, न्यू यॉर्क सिटी और वॉशिंगटन में पिछले 40 वर्षों से बतौर पत्रकार और संपादक पर्यावरण जागरूकता को लेकर सक्रिय हैं। वहीं सारा मचेट रंगकर्मी होने के साथ ही शोधार्थी और शिक्षिका हैं। सारा लगातार दक्षिण अफ्रीका और भारत के कई क्षेत्रों के सामाजिक मुद्दों पर काम कर रही हैं। स्पेन की अलिसिया कोराल रंगकर्मी और शोधार्थी हैं और कई देशों की यात्रा करते हुए उन्होंने पर्यावरण के बदलते परिदृश्य

को गौर से देखा है। विवेक जी आध्यात्मिकता से जुड़े हुए हैं और पर्यावरण पर भी उनका गहन अध्ययन रहा है। देश भर में उनके अनेक फ़ालोवर्स हैं। पर्यावरण संबंधी इस चर्चा में सभी वक्ताओं ने अपने अनुभव और विचार साझा किए। 'आर्ट एंड क्लाइमेट चेंज' पर केन्द्रित इस विशेष सत्र का संचालन सुदीप सोहनी और विशाखा राजुरकर ने किया। वीफा के दूसरे दिन शाम के सत्र रवींद्र भवन में आयोजित किए गए। पूर्वरंग से शुरुआत करते हुए बंगाल के प्रसिद्ध दोतारा वादक शुभब्रत सेन ने बंगला ढोल वादक मानस सरकार के साथ प्रस्तुति दी। शुभब्रत सेन और मानस सरकार ने अपनी प्रस्तुति में बंगाल के लोक वाद्यों पर जुगलबंदी पेश की और बंगाल के लोक गीतों की प्रस्तुति भी दी। इसके पश्चात मुंबई से आए दिनेश ठाकुर के अंक थिएटर ग्रुप के नाटक 'अटके भटके लटके सुर' की प्रस्तुति हुई जिसमें कलाकार अमन गुप्ता व प्रीता माथुर ने एकल अभिनय किया। इस नाटक के लेखक और निर्देशक हैं अशोक मिश्रा। भोपाल में हुई इस प्रस्तुति में विहान के कलाकार अंकित पारोचे और हर्ष पांडे ने प्रकाश संचालन किया और शुभम कटियार ने संगीत संचालन किया।

अध्यात्म और कला : महोत्सव के तीसरे दिन की शुरुआत विहान के नवाचार 'थेओरिक्स' की आठवीं श्रंखला से हुआ। थेओरिक्स-8 के अंतर्गत विवेक जी के साथ 'अध्यात्म और कला' विषय पर चर्चा का आयोजन किया गया। इस सत्र की शुरुआत शुभब्रतो सेन और मानस सरकार के बंगाली लोक गीतों और विहान के मार्गी बैंड की सांगीतिक प्रस्तुति के साथ हुई। वीफा के तीसरे दिन पूर्वरंग प्रस्तुति के अंतर्गत बंगाल के कलाकारों द्वारा बंगाली लोक कथा 'मनसा-मंगल' की प्रस्तुति दी गई। शिप्रा मुखर्जी और देव कुमार द्वारा अभिनीत प्रस्तुति में शुभब्रतो सेन, मानस सरकार और गोबिन्द डे ने गायन और वाद्य सहयोग दिया। इसके पश्चात रवींद्र भवन सभागार में वीणा शर्मा के निर्देशन में नाटक 'बड़े भाईसाहब' का मंचन किया गया। रंग विषारद थिएटर क्लब, नई दिल्ली के कलाकारों की इस प्रस्तुति को भोपाल के दर्शकों ने खूब सराहा।

हास्य चूड़ामणि : नए साल की शुरुआत नए उद्देश्यों के साथ करते हुए वीफा के अंतर्गत क्लाइमेट वॉक का आयोजन किया गया। इस वॉक में भोपाल की अनेक शैक्षणिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं ने भाग लिया जिनके साथ देश-विदेश से आए वीफा के कलकार भी पर्यावरण संरक्षण को समर्पित इस पैदल यात्रा में शामिल हुए। भोपाल के बोट क्लब से तात्या टोपे स्टेडियम तक आयोजित इस पैदल यात्रा का उद्देश्य था शहरवासियों तक पर्यावरण संरक्षण के संदेश को संप्रेषित करना। महोत्सव के चौथे दिन पूर्वरंग प्रस्तुति के अंतर्गत सारा मचेत की एकल प्रस्तुति 'वॉक: साउथ अफ्रीका' का मंचन हुआ। यह प्रस्तुति महिलाओं पर होते अत्याचारों पर केन्द्रित थी। इस प्रस्तुति के पश्चात पूर्वरंग के अंतर्गत बंगाली लोक संगीत का आयोजन किया गया। नए साल के पहले दिन की मुख्य प्रस्तुति के रूप में विहान ड्रामा वर्क्स के कलाकारों द्वारा सौरभ अनंत के निर्देशन में प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि' का मंचन किया गया। 11वीं शताब्दी में महामात्य वत्सराज द्वारा लिखित संस्कृत प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि' का बुन्देली नाट्य रूपान्तरण का भोपाल के दर्शकों ने हमेशा की तरह खूब आनंद लिया।

कविता पाठ और नृत्य : अंतर्राष्ट्रीय कला महोत्सव वीफा-2 के पांचवें दिन शहीद भवन में दर्शक-श्रोताओं ने कविता, नृत्य और नाटक का लुत्फ उठाया। पर्यावरण के संदेश को प्रचारित करते हुए देश विदेश के कलाकारों की उपस्थिति में यह वीफा का पाँचवाँ दिन था। दो दिवसीय कविता श्रृंखला पोएटिक्स के पहले सत्र में राघवेंद्र मधु (दिल्ली), ब्रज श्रीवास्तव व मणि मोहन (विदिशा), अमेयकान्त (देवास), प्रतिभा गोटीवाले व संध्या कुलकर्णी (भोपाल) बहादुर पटेल व संदीप नाईक (देवास) ने शिरकत की। शाम के सत्र की शुरुआत पूर्वरंग में भरतनाट्यम की प्रस्तुति से हुई। प्रतिभालय आर्ट्स अकादमी के कलाकारों ने विशाल हतवलने के निर्देशन मे 'वसुंधरा'

वीफा के मंच पर विहान का बहुचर्चित नाटक 'हास्य चूड़ामणि', नई दिल्ली से आईं हिन्दी की अग्रणी लेखिका डॉ. चित्रा मुद्गल और 1 जनवरी की सुबह जलवायु परिवर्तन की चिंता को लेकर क्लाइमेट वॉक में शरीक मैक्सिको की सोशल एक्टिविस्ट मारिया पले और स्पेन की नृत्यांगना अलीशिया कोराल। साथ में विहान परिवार के विनय उपाध्याय, सुदीप सोहनी, एकता और संजय शैफर्ड।

सालगिरह पर चढ़ा जश्न का सुरूर

समय की आवृत्तियों में फैले सपनों, इरादों, चुनौतियों, संघर्षों और उपलब्धियों के चढ़ते सोपानों का यह उत्सव था। अपने सूबे के अस्तित्व में आने और अविराम गतियों तथा गंतव्यों को मुड़कर देखने और सुनहरे कल की हसरतों के साथ सुरीली जुगलबंदी के आनंद में शरीक होने का जश्न। क्या थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी के प्रश्नाकुल सिलसिले में संकल्पों की नई इबारत जोड़ने की इच्छाशक्ति का यह उद्घोष एक नवंबर की ढलती शाम हज़ारों वाशिंदों की साक्षी में फिर एक नए भरोसे का प्रतीक बना। राजधानी भोपाल के मोतीलाल नेहरू परेड प्रांगण के मुक्ताकाश में परिकल्पित चौसठ योगिनी मंदिर के मंच पर गुणी लोकप्रिय गायक हरिहरन की मौसिकी के रंग छलके। सांस्कृतिक विरासत की आदिम सुर-ताल और लयकारी के ललित छंदों की छटा बिखरी। वतनपरस्ती तथा प्रेम-प्रसन्नता की मिठास में भीगे तरानों का सुरूर परवान चढ़ा। एक ओर गौरवशाली अतीत का गुणगान तो दूसरे छोर पर सुनिधि चौहान द्वारा नई ढब के चाल-चेहरे पर चहक-महक की मोहर लगाता संगीत। यूँ आधी रात के आसपास उमंगों की थिरकन जारी रही। इस समूचे जश्न-ए-जम्हूरियत का सबब मध्यप्रदेश की साठवीं सालगिरह और इकसठवाँ स्थापना दिवस था।

कार्तिक की उजियारी सांझ टिमटिमाते दियों की रौशनी से और भी रिवल उठी थी। दूज का चांद आसमान पर उभर आया था। इसी बीच प्रदेश के मुखिया शिवराज सिंह चौहान जनता के बीच गर्वोचित भाव लिए प्रकट हुए। इकसठवें स्थापना दिवस की शुभेच्छाएँ साझा की और राज्य के सर्वांगीण विकास में प्रदेशवासियों की हिस्सेदारी की विनम्र अपील की। बेहतर कामों को सराहा। तरक्कियों से जुड़ी जनहितकारी योजनाओं का हवाला दिया तथा एक बार पुनः सरकार के व्यापक सामाजिक सरोकार के प्रति सामूहिक संकल्प दोहराया। मंच की मुख्य आसंदी पर मुख्यमंत्री के साथ संस्कृति-पर्यटन मंत्री सुरेन्द्र पटवा, पूर्व मुख्यमंत्री कैलाश जोशी, सहकारिता राज्य मंत्री विश्वास सारंग, महापौर आलोक शर्मा, सांसद आलोक संजर, विधायक रामेश्वर शर्मा, विष्णु खत्री, मुख्य सचिव ए.पी. सिंह, प्रमुख सचिव संस्कृति मनोज श्रीवास्तव, आयुक्त संस्कृति राजेश प्रसाद मिश्रा आदि उपस्थित थे। अपने संबोधन के बाद मुख्यमंत्री ने देश की पहली भीली चित्रकार श्रीमती भूरी बाई, समाज सेविका सुश्री पुष्पा दीदी सिन्हा, कृषि विशेषज्ञ श्री सौदान सिंह, वैज्ञानिक श्री सुधीर मिश्रा और वन विशेषज्ञ श्रीयुत श्रीनिवास रंगैया को मध्यप्रदेश गौरव सम्मान से विभूषित किया। इसी तारतम्य में सम्मान का एक और महत्वपूर्ण पहलू मुख्यमंत्री ने अपनी ओर से जोड़ा। उन्होंने विभिन्न घटनाओं-दुर्घटनाओं में विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए शौर्य-साहस पूर्वक अपने दायित्वों का परिचय देने वाले सिपाहियों और नागरिकों को भी नवाजा। सम्मान पाने वालों में महानिरीक्षक ए.टी.एस. पुलिस मुख्यालय (भोपाल) श्री संजीव शर्मा, पुलिस महानिरीक्षक श्री योगेश चौधरी, उप पुलिस महानिरीक्षक श्री रमन सिंह सिकरवार के अलावा सर्वश्री मोहन मीणा (ग्राम खेजड़ा देव), पदमसिंह मीणा (ग्राम ईंटखेड़ी), ज्ञानसिंह मीणा (ग्राम चांदपुर), विनोद मीणा (ग्राम मुगालिया हाट), राजेश देव (ग्राम खेजड़ा देव) और हेमराज अहिरवार (ग्राम खेजड़ा देव) शामिल थे। चार चरणों में विभाजित स्थापना दिवस समारोह का यह पहला हिस्सा था।

की प्रस्तुति दी। मंजु मणि हतवलने की नृत्य संरचना में प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को दिखाया गया है। तनिष्का हतवलने सहित दिशा वर्मा, शिखा बिल्लोरे, अंजलि खुशलानी, पवित्रा अय्यर, गायत्री अय्यर, श्रुति जैन, लविशा, शीतल, मानसी, सलोनी, संजना, नीतिका, हर्षिता और रिया आदि कलाकरों ने कुशलता पूर्वक भरतनाट्यम की मुद्राओं में इस प्रस्तुति को जीवित किया। इसके पश्चात प्रिज्म थिएटर सोसाइटी, दिल्ली के नाटक ''खिड़की'' का मंचन हुआ। नाटक एक लेखक की दुविधा, मानसिक कशमकश और रायटर्स ब्लॉक की उधेड़ बुन मे फंसे हुए उस लेखक के मनोविज्ञान दर्शाते हुए रहस्य और रोमांच का अनुभव कराता है। प्रियंका शर्मा और जतिन सरन का अभिनय लेखक के अंतर्द्वंद्व को बखूबी उकेरता है।

विहान द्वारा आयोजित इस कला महोत्सव को देश-विदेश की अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं का सहयोग प्राप्त है जिनमें न्यूयॉर्क की थिएटर विदाउट बॉर्डर्स और आर्टिस्ट एंड क्लाइमेट चेंज, भोपाल की संस्थाएं आरुषि, वनमाली सृजनपीठ, बी.एस.एस.एस. कॉलेज, दुष्यंत कुमार संग्रहालय, कला समय, रंग संवाद, एम.पी. टूर एंड ट्रैवल्स, ब्लू बेरी स्टेज, बिग एफ.एम., घंटा एंटरटेनमेंट्स और एलिक्ज़ियर वर्ल्ड शामिल हैं।

'माँ मुझे टैगोर बना दे' : छठवां दिन कविताओं और किरदारों के नाम रहा। शहीद भवन स्थित सभागार में कोहरे से ढँकी शाम जब जम्मू से आए लकी गुप्ता और विहान ड्रामा वर्क्स भोपाल ने क्रमशः 'माँ मुझे टैगोर बना दे' और ख्यात पंजाबी लेखिका अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' पर आधारित नाटक 'अमृता' का मंचन सुदीप सोहनी के निर्देशन में किया तो दर्शकों ने भावुक मन के साथ दोनों ही किरदारों को भरपूर निहारा। इसके पहले सुबह दो दिवसीय कविता श्रृंखला 'पोएटिक्स-9' में देश-विदेश के कवियों ने कविता पाठ और बातचीत के साथ रचना प्रक्रिया और अनुभवों को साझा किया। कविता पाठ के आखिरी दिन कानपुर से आभा द्विवेदी व वीरू सोनकर, दिल्ली से अमृत सागर व सोनाली बोस और भोपाल से अनुलता राज नायर, गीत चतुर्वेदी, पल्लवी त्रिवेदी, शहनाज़ इमरानी, स्मिता राजन और प्रेमशंकर शुक्ल तथा मैक्सिको से आई पत्रकार मारिया पले ने शिरकत की। वरिष्ठ आलोचक व कवि डॉ विजयबहदुर सिंह सहित युवा कलाकार व संस्कृतिकर्मियों के बीच सभी कवियों ने प्रेम, जीवन, कला, यात्रा व अनुभवों पर आधारित कविताओं का पाठ किया।

पणिक्कर और रज़ा का स्मरण : वीफा का सातवां दिन वार्ता व संवादों के साथ शुरू हुआ। इसी के साथ वीफा के दूसरे पड़ाव की अंतिम शाम भोपाल में पहली बार जापानी नृत्य 'बूतो' की प्रस्तुति हुई और जबलपुर से आये समागम रंगमंडल के कलाकारों द्वारा नाटक 'एक संवाद की यात्रा' का मंचन किया गया। वीफा का तीसरा पड़ाव 5 जनवरी से 8 जनवरी तक भारत भवन में आयोजित किया गया। रंगमंच और चित्रकला की दुनिया के विख्यात कलाकारों - कावालम नारायण पणिक्कर और सैयद हैदर रज़ा के कला-अवदानों और उनके कला-कर्म पर एकाग्र इस वार्ता में उदयन वाजपेयी और प्रयाग शुक्ल उपस्थित थे।

फिल्म प्रदर्शन : महोत्सव के आठवें दिन फिल्म प्रदर्शन, पंजाबी संगीत और नाटक 'चुहल' के नाम रहा। 5 जनवरी को सुबह भोजपुर क्लब में मराठी फिल्म 'किल्ला' का प्रदर्शन किया गया। इस अवसर पर 'किल्ला' के लेखक तुषार परांजपे ने वीफा में शिरकत की और प्रदर्शन के बाद दर्शकों से बातचीत की। गौरतलब है कि तुषार परांजपे द्वारा लिखित इस फिल्म का प्रदर्शन अनेक देशों के फिल्म समारोहों में किया जा चुका है। पंजाब के युवा

वीफा 2017 के समापन दिवस भारत भवन में नन्हीं चित्रकार तनिष्का को पुरस्कृत करते हुये आईसेक्ट के निदेशक सिद्धार्थ चतुर्वेदी और भोपाल संभागायुक्त अजातशत्रु

कलाकारों विनोद राम और सुधांशु गर्ग का संगीत भी हुआ। मानव कौल द्वारा लिखित और निर्देशित नाटक 'चुहल' जिसका मंचन शाम को पूर्वरंग के पश्चात भारत भवन के अंतरंग सभागार में किया गया। अरण्य, मुंबई के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत नाटक 'चुहल' एक हल्की-फुल्की, मनोरंजक प्रेम कहानी है। मानव कौल, सुगंधा गर्ग, पद्मा दामोदरन, सृष्टि श्रीवास्तव, कैलाश कुमार और अतुल रस्तोगी के अभिनय को भोपाल के दर्शकों ने खूब सराहा।

पटकथा लेखन पर संवाद : वीफा का नवां दिन पटकथा लेखन की कार्यशाला के साथ शुरू हुआ। इस अवसर पर हिन्दी फिल्म जगत के जाने-माने पटकथा लेखक अंजुम राजाबली ने शिरकत की और पटकथा लेखन की बारीकियों पर बात की। इस कार्यशाला के बाद भारत भवन के अंतरंग सभागार में 'सिनेमा: लेखक की दृष्टि से' विषय पर अंजुम राजाबली, पुबाली चौधरी और तुषार परांजपे ने अपनी बातें रखीं। लेखन पर केंद्रित इन दो सत्रों के पश्चात जाने-माने अभिनेता और निर्देशक मकरंद देशपांडे से बातचीत का आयोजन रखा गया। इस अनौपचारिक बातचीत में मकरंद ने रंगमंच के अपने अनुभव साझा किए। इस अवसर पर मकरंद के साथ कला समीक्षक अजीत राय भी उपस्थित थे।

विहान का 'मार्गी' और 'चरणदास' : वीफा की नवीं शाम का आग़ाज़ विहान के बैंड 'मार्गी' के कविता संगीत के साथ हुआ। आशीष प्रसाद, हीरा धुर्वे, श्वेता केतकर, अंबाली रॉय चौधरी, वंदना पांडे, निवेदिता सोनी, हर्ष पांडे, रवि अर्जुन, तेजस्विता अनंत, शिवानी सिंह और अनुराग तिवारी ने अपनी सांगीतिक पूर्वरंग प्रस्तुति से समां बंधा। पूर्वरंग प्रस्तुति के पश्चात हबीब तनवीर द्वारा लिखित और निर्देशित नाटक 'चरणदास चोर' की प्रस्तुति हुई। भारत भवन के अंतरंग सभागार में नया थिएटर के कलाकारों द्वारा अभिनीत इस नाटक का दर्शकों ने खूब आनंद लिया।

भारत भवन सभागार में वीफा के दसवें दिन शनिवार सुबह प्रसिद्ध पुरालेखपाल (अर्चिविस्ट) पी.के. नायर पर बनी फिल्म 'सैलुलॉइड मैन' की स्क्रीनिंग हुई। शाम को विहान के म्यूजिकल विंग 'मार्गी' बैंड ने पारम्परिक और आधुनिक संगीत को विलीन कर तरोताज़ा कर देने वाला संगीत श्रोताओं तक पहुँचाया जिसे श्रोताओं ने काफ़ी सराहा।

नन्हें चित्रकारों ने रचा अपना शहर : महोत्सव के दसवें दिन की शुरुआत भारत भवन के अंतरंग सभागार में शिवेंद्र सिंह डूंगरपुर द्वारा निर्देशित डॉक्यूमेंट्री फिल्म 'सैलुलॉइड मैन' की स्क्रीनिंग से हुई। यह फिल्म पुणे स्थित 'नेशनल फिल्म आर्काइव ऑफ़ इंडिया' के संस्थापक पी.के. नायर के जीवन और सिनेमा में उनके ऐतिहासिक योगदान पर केन्द्रित है। इसके पश्चात कला और फिल्म समीक्षक अजीत राय ने फिल्म के बारे में बात करते हुए विश्व सिनेमा पर बातचीत की। रविवार सुबह भारत भवन के बहिरंग में 4 से 16 वर्ष की उम्र के बच्चे रंगों और पेंट ब्रश के साथ चित्र बनाते नज़र आए। इस प्रतियोजिता का विषय था 'ये मेरा भोपाल' जहां सभी बच्चे भोपाल शहर को अपनी नज़रों से पेंट कर रहे थे।

वीफा के 11वें दिन दोपहर में जम्मू के लकी गुप्ता ने 'माँ मुझे टैगोर बना दे' की एकल प्रस्तुति दी। शाम को पूर्वरंग प्रस्तुति के अंतर्गत पंजाब के कलाकार गुरविंदर सिंह ने पंजाबी लोक गीतों की प्रस्तुति दी। वीफा की अंतिम शाम विहान के नाटक 'प्रेम पतंगा' का मंचन किया गया। विमल चन्द्र पांडे की कहानी पर आधारित सौरभ अनंत के निर्देशन में विहान के कलाकारों की प्रस्तुति को दर्शकों की खूब सराहना मिली। आईसेक्ट युवा निदेशक सिद्धार्थ चतुर्वेदी, भोपाल कमिश्नर अजातशत्रु और कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने नन्हें चित्रकारों को पुरस्कृत किया।

रपट : विशाखा राजुरकर

शब्द, ध्वनि और दृश्य

संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के निमित्त संस्कृति का उत्सव

कवि-मित्र राजेश जोशी को सम्मान भेंट करते हुए संतोष चौबे

जेब से अचानक गिर गई कलम या सिक्के को उठाने को झुकता हूं, झुकता हूं लेकिन उस तरह नहीं जैसे एक चापलूस की आत्मा झुकती है, मैं झुकता हूं... सुप्रसिद्ध कवि राजेश जोशी ने आईसेक्ट विश्वविद्यालय में आयोजित कविता की सुबह के कार्यक्रम में जब ये कविता सुनाई तो पूरा सभागार तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा।

साहित्य, संस्कृति शिक्षा और सामाजिक उद्यमिता के क्षेत्र में अनवरत सक्रिय तथा उपलब्धियों से आलोकित आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलाधिपति संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के निमित्त रचनात्मक समारोह की समापन कड़ी के रुप में 16 से 22 सितंबर तक आयोजित 'शब्द, ध्वनि और दृश्य' रूपक राजेश जोशी के काव्य पाठ से शुरु हुआ। इस अवसर पर संतोष चौबे ने राजेश जोशी जी का शॉल, श्रीफल और स्मृति चिन्ह से सम्मान किया। संवाद के दौरान कविता को कंस्ट्रेक्ट करने की बात पर श्री जोशी ने कहा कि गद्य में कविता का पैदा होना आधुनिक कविता का बड़ा चैलेंज है। हर कवि को अपने वाक्य पैदा करने होते हैं। हमें इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि हम पूरा वाक्य लिखें। उन्होंने कहा कि 1990 के बाद विज्ञापनों ने बिम्बों को प्रतिभाषा के रुप में प्रकट किया। इसके बाद से ही निरंतर बिम्ब कम होते गए। कार्यक्रम का संचालन वनमाली सृजनपीठ के समन्वयक श्री विनय उपाध्याय ने किया।

आठ कवियित्रियाँ साथ-साथ : ''सफ़र में एक हुजूम था, मगर ये राज़ अब खुला कि कोई भी किसी के साथ न चल रहा। दिल के बुरे हैं, लेकिन अच्छे भी तो लगते हैं। लड़कियों से लावण्य और लोच, लड़कों से पौरुषता और चपलता, बूढ़े चेहरों से ठंडक धीरे-धीरे छूट रही है'' जैसे अशारों के साथ भोपाल की आठ प्रसिद्ध कवियित्रियों ने दस्तक दी। मौका था आईसेक्ट विश्वविद्यालय के सभागार में शब्द, ध्वनि और दृश्य के दूसरे दिन 'कविता की सुबह' कार्यक्रम का।

ऊषा प्रारब्ध ने 'कुछ देर ठहर जाना चाहती हूँ', 'नदी', 'बिंदिया से शुरु होती है सुबह', 'आंच' शीर्षक से कविताएं सुनाईं। प्रतिभा गोटीवाले की कविता ''पुरानी बातों की पंक्तियां 'जब भी याद आती हैं पुरानी बातें, तो हँस पड़ता हूं सोच कर'', को सभी ने पसंद किया। कवयित्री शहनाज इमरानी ने 'आज़ादी', 'लड़की', 'रोज़ बदलती तारीखें' जैसी स्त्री विमर्श की कविताएं सुनाईं। आरती ने 'मुर्दा मौत', 'पहाड़ और पगडंडियां', 'मृत्युशैया पर एक स्त्री का बयान' जैसी मर्मस्पर्शी कविताओं का पाठ किया। प्रज्ञा रावत ने अपने पिता को याद करते हुए 'आग और सपना', 'बीज मंत्र', 'सबसे कह दो', 'जो नदी होती' कविताओं की प्रस्तुति दी। डॉ. नुसरत मेंहदी के शेर ''इश्क़

आईसेक्ट विश्वविद्यालय भोपाल के शारदा ऑडिटोरियम में कुलाधिपति संतोष चौबे और कुलपति ए.के. ग्वाल के साथ भोपाल की कवियित्रियाँ

में मजनूं और फरहाद नहीं होने के, ये नये लोग हैं बर्बाद नहीं होने के'' और परवीन क़ैफ़ ने अपने अशआरों से समां बांध दिया। सविता भार्गव ने भी अपनी कविताओं से दाद बटोरी। कार्यक्रम का संचालन वरिष्ठ आलोचक राम प्रकाश त्रिपाठी और विनय उपाध्याय ने किया।

जुगलबंदी और कहानी मंचन : स्वराज भवन में रचना पाठ और पुस्तक विमोचन का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में सुप्रसिद्ध कवि, कथाकार श्री संतोष चौबे के उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' तथा उनके कहानी संग्रह 'बीच प्रेम में गांधी' के मलयालम अनुवाद का विमोचन किया गया। कार्यक्रम के दौरान स्वयंप्रकाश की कृति 'बीच में विनय' तथा मुकेश वर्मा के कहानी संग्रह 'सत्यकथा कही नहीं जाती' भी जारी की गई। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रसिद्ध साहित्यकार शशांक ने की। उन्होंने कहा कि आज ज़रूरत है भारतीय साहित्य की पहचान की और यह हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के एक प्रतिनिधि स्तर से ही संभव है।

मुख्य वक्ता के रूप में संबोधित कर रहे वी.जी. गोपालकृष्णन ने कहा कि मनुष्य के जीवन संघर्ष से साहित्यकार के जुट जाने से श्रेष्ठ साहित्य का जन्म होता है। कार्यक्रम में कविता और कहानियों की अनूठी जुगलबंदी भी देखने को मिली। कवि बलराम गुमास्ता ने 'हे राजन करो हमले, विसर्जन, खुदीराम बोस की अंतिम यात्रा का वर्णन' एवं कवि महेन्द्र गगन ने 'मंगलगान, सरेआम, आदत, नींद, दृश्य, इरादा जैसी समसामायिक और माननीय संवेदनाओं की कविताओं का पाठ किया, तो श्री संतोष चौबे ने 'लेखक बनाने वाले' और मुकेश वर्मा ने 'दिलों से एक आवाज़ ऊपर उठती हुई' कहानी का पाठ किया।

रवीन्द्र भवन में संतोष चौबे की कहानी 'गरीब नवाज़' का मंचन हुआ। संभव रंग समूह, नई दिल्ली की इस प्रस्तुति का निर्देशन सुप्रसिद्ध रंगकर्मी देवेन्द्र राज 'अंकुर' ने किया। यह कहानी हमारे समय के कार्पोरेट जगत के साथ जुड़ी विसंगतियों और लोकतांत्रिक शक्तियों को उनके यथार्थ के साथ प्रस्तुत करती है। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ की सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' के नये अंक का लोकार्पण भी किया गया।

स्वराज भवन में आयोजित लोकार्पण, पाठ एवं चर्चा के अंतर्गत श्री संतोष चौबे की कहानी संग्रह ''नौ बिन्दुओं का खेल'' के उर्दू अनुवाद का लोकार्पण हुआ। उर्दू अनुवाद शाहनवाज़ खान ने किया। नुसरत मेहंदी, इक़बाल मसूद और श्याम मुंशी ने चर्चा के दौरान अपने व्यक्तव्य दिये।

समापन 22 सितम्बर को रवीन्द्र भवन में किया गया। शेडो ग्रुप, भोपाल ने मनोज नायर के निर्देशन में संतोष चौबे की कविताओं का नाट्य मंचन किया। कविताओं का संगीत संतोष कौशिक ने रचा है।

-समीर चौधरी, विक्रांत भट्ट और विजय प्रताप सिंह

सुशील त्रिवेदी का अमृत प्रसंग

मध्यप्रदेश में सूचना प्रकाशन विभाग से अपना जीवन प्रारंभ करने वाले डॉ. सुशील त्रिवेदी पश्रिम, कर्तव्य निष्ठा और प्रभावी मेधा से आय.ए.एस. बने और बाद में छत्तीसगढ़ में राज्य निर्वाचन आयुक्त के पद से सेवा निवृत्त हुए। लेकिन उनकी प्रसिद्धि एक लेखक, कला समीक्षक और लोक जीवन के भाष्यकार के रूप में हुई। इसीलिये उनके 75वें वर्ष में प्रवेश पर हिन्दी भवन में अमृत-प्रसंग का अनूठा आयोजन हुआ।

मुख्य अतिथि म.प्र. के पूर्व मुख्य सचिव कृपाशंकर शर्मा ने इस अवसर पर उनकी कर्तव्यनिष्ठा की सराहना की। विशिष्ट अतिथि संतोष चौबे ने उनके द्वारा कला एवं रंग प्रदर्शनियों, रंगमंच की समीक्षा को सराहते हुए उनके प्रशासक बनने से इस विधा को हुई क्षति की बात कही। छत्तीसगढ़ के पूर्व मुख्य सचिव श्री अशोक कुमार विजयवर्गीय ने उन्हें एक विश्वस्त सहयोगी बताया। कवि-कथाकार संतोष चौबे ने त्रिवेदी के प्रशासनिक और सांस्कृतिक व्यक्तित्व से जुड़े पहलुओं की चर्चा करते हुए कहा कि डॉ. सुशील हिन्दी क्षेत्र में अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टि और कला आलोचना में एक नई रचनात्मक आभा का संचार करने वाले व्यक्ति रहे हैं। श्रीराम तिवारी ने कला जगत से जुड़े पुराने अनुभवों को साझा किया। डॉ. शंभुदयाल गुरू ने उनकी सरलता और रिश्ते निभाने की निपुणता को याद किया। अध्यक्षीय वक्तव्य में रमेशचंद्र शाह ने उनके निष्पक्ष दृष्टिकोण, साहित्यिक सूझ-बूझ और लेखन की प्रशंसा की। उन्हें एक श्रेष्ठ समीक्षक भी बताया।

सम्मान का उत्तर देते हुए सुशील त्रिवेदी ने उन अग्रजों का स्मरण किया जिनके मार्गदर्शन और सहयोग से वे प्रशासक के रूप में सफल रहे। भोपाल में साहित्य और कला के संवर्धन और विकास में भारत भवन के निर्माण को महत्वपूर्ण पड़ाव बताया। इस अवसर पर श्री विजयदत्त श्रीधर ने श्री त्रिवेदी के आरंभिक और बुनियादी कामों का स्मरण किया। श्री किशन पन्त और श्री श्रीधर तथा श्री सुशील केड़िया ने संयुक्त रूप से श्री त्रिवेदी को सम्मानित किया। इस अवसर पर भोपाल की साहित्यिक और कला संस्थाओं ने पुष्पगुच्छों और शालों से श्री त्रिवेदी का स्वागत किया।

भारतीय साहित्य परिषद् का सम्मान समारोह

भारतीय साहित्य परिषद् की भोपाल इकाई द्वारा संस्था के स्वर्ण जयंती समारोह के अन्तर्गत राज्य संग्रहालय में वरिष्ठ साहित्यकारों का सम्मान समारोह आयोजित किया गया। कार्यक्रम में बतौर मुख्य अतिथि पूर्व सांसद कैलाश सारंग तथा अध्यक्ष के रूप में अखिल भारतीय संगठन मंत्री श्रीधर पराड़कर उपस्थित थे। विशिष्ट अतिथि श्री रामेश्वर मिश्र पंकज ने स्वतंत्रता के बाद वैचारिक जगत में व्याप्त होने वाली विचारधाराओं का संक्षिप्त विवेचन करते हुए भारतीय दृष्टि के सन्निवेश की आवश्यकता प्रतिपादित की। श्री पराड़कर ने पाठकों से संवाद बना सकने में सक्षम भाषा और कथ्य नदारद हैं। साहित्यकारों को अपनी सांस्कृतिक जड़ों की पहचान करनी चाहिये। स्वर्ण जयंती सम्मान में स्वर्गीय दिवाकर वर्मा, श्री जगदीश तोमर, श्री कैलाशचन्द्र

पन्त, श्री महेश श्रीवास्तव तथा श्रीमती विनय राजाराम को सम्मानित किया गया। श्री राजेन्द्र शर्मा अक्षर, श्रीमती शीला मिश्रा, श्रीमती दीक्षित को संस्था का वार्षिक सम्मान प्रदान किया गया।

भोजपुरी परंपरा में व्यक्ति और समाज के सरोकार

भोजपुरी साहित्य अकादमी द्वारा भोज रचनाएं विचार-विमर्श की मासिक श्रृंखला के अंतर्गत आईसेक्ट यूनिवर्सिटी के कुलपति संतोष चौबे की अध्यक्षता में एक विचार विमर्श का कार्यक्रम का आयोजन स्वराज भवन भोपाल में किया गया। इस कार्यक्रम में समाज साहित्य, संस्कृति और शिक्षा विषयों के अध्येता प्रो. गिरीश्वर मिश्र, कुलपति महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा ने भोजपुरी परम्परा में व्यक्ति और समाज के सरोकार विषय पर अपने विचार साझा किए। उन्होंने कहा भोजपुरी, मैथिली, मागधी, अवधि और ब्रज भाषा से मिलकर हिंदी भाषा बनी है। हिंदी और भोजपुरी भाषा में आवाजाही है। जितने भी बड़े साहित्यकार हैं, वह भोजपुरी के रस, उसके उतार-चढ़ाव को साहित्य में बहुत खूबसूरती से ढालते आए हैं। इस व्याख्यान में उन्होंने व्यक्ति और समाज की बात की। कबीर से लेकर गोरख पांडे और हरी राम की कविताओं का उदाहरण देते हुए भोजपुरी भाषा के मोहक असर और छटा को व्यक्त किया।

इस व्याख्यान की खास बात ये रही कि प्रो. गिरीश्वर मिश्र ने अपने विचार भोजपुरी भाषा में व्यक्त किए। भोजपुरी पृष्ठभूमि से जुड़े लेखकों ने यहां की संस्कृति को बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि मनुष्य की समस्या पर विचार करने भोजपुरी कवियों की कविताएं भी पेश कीं। इस मौके पर भोजपुरी समाज के काफी लोग मौजूद रहे। भोजपुरी साहित्य के आयामों की बात करते हुए उन्होंने कहा कि भारत में राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के बाद सबसे ज़्यादा बोली जाने वाली बोलियों में भोजपुरी है। इस साहित्य में व्यक्ति के सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक और समाज से सरोकार साहित्य की रचनाएं की गयी हैं। भोज शब्द पर बात करते हुए उन्होंने बताया कि भोज शब्द का ज़िक्र ऋग्वेद और महाभारत में भी हुआ है, इसके अलावा राजा भोज के नाम में भी शामिल है।

कहानी में कलात्मक सौंदर्य

मुकेश वर्मा का नया कहानी संग्रह लोकार्पित

''नैतिक मूल्यों के विघटन के इस दौर में सत्कथा कहना किसी चुनौती से कम नहीं है''। अपने इस लेखकीय आग्रह के साथ कथाकार मुकेश वर्मा राज्य संग्रहालय भोपाल के सभागार में नए कथा संग्रह की सौगात लिए श्रोताओं से रूबरू हुए। उनके इस नए संग्रह ''सत्कथा कही नहीं जाती'' पर अपनी राय ज़ाहिर करते हुए हिन्दी के प्रख्यात कहानीकार प्रियंवद ने कहा कि मुकेश की किस्सागोई में विषय और विचार पूरे सौंदर्य बोध के साथ उजागर हुए हैं। जबकि समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रख्यात उपन्यासकार और संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे ने वर्मा की कहानियों को यथार्थ और फैंटेसी के बीच नैतिक मूल्यों का सृजन बताया।

वनमाली सृजनपीठ द्वारा साहित्य संस्था पहले पहल, स्पंदन और म.प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सहयोग से संयोजित लोकार्पण और कृति विमर्श के इस गरिमामय प्रसंग को कथाकार शशांक, युवा आलोचक पल्लव ने भी अपने समीक्षात्मक वक्तव्यों से नई वैचारिक ऊष्मा प्रदान की। इस मौके पर श्री मुकेश वर्मा ने पुस्तक की शीर्षक कहानी ''सत्कथा कही नहीं जाती'' का भावपूर्ण पाठ भी किया। कवि बलराम गुमास्ता ने वर्मा के लेखकीय योगदान और उपलब्धियों से अवगत कराया।

वनमाली सृजनपीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने अतिथि वक्ताओं को स्मृति चिह्न भेंट कर सम्मानित किया। संतोष चौबे ने लोकार्पित संग्रह की कहानियों का हवाला देते हुए कहा कि अपनी कहन और भाषा के खास मुहावरे को लेकर रची गई मुकेश जी की कहानियों में नैतिक मूल्य झांकते से लगते हैं। ये कहानियां ताज़गी का अहसास कराती हैं। समारोह के मुख्य वक्ता लखनऊ से आए श्री प्रियंवद ने अपने लंबे उद्‌बोधन में वर्मा की कहानियों की गहरी पड़ताल की। उन्होंने कहा कि मुकेश वर्मा हमारे समय के बहुत ही महत्वपूर्ण कथाकार हैं, जो अपनी कहानियों में सामाजिक सरोकार, गहरी संवेदना और ह्यूमर के कारण अलग दिखते हैं। उनकी कहानियां सिर्फ विषय के कारण ही नहीं बल्कि अपने कलात्मक सौंदर्य के कारण भी उल्लेखनीय है। किस्सागोई मुकेश वर्मा की एक और उल्लेखनीय विशेषता है जो इन्हें अपने

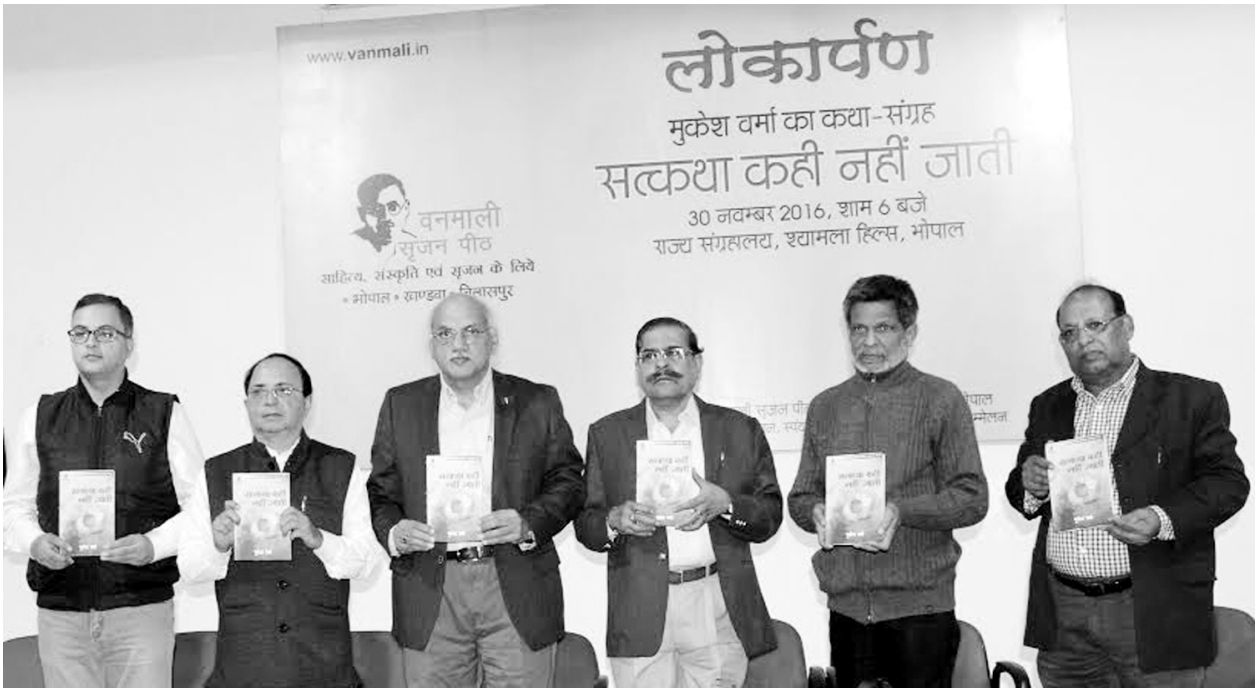

समकालीनों से अलग करती है। वरिष्ठ कथाकार शशांक ने भी मुकेश की कहानियों को एक जागरूक लेखक का अपने समय में सार्थक हस्तक्षेप बताया। युवा आलोचक पल्लव के अनुसार मुकेश वर्मा की कहानियां हमारे समय के विद्रूप होते जा रहे यथार्थ को व्यक्त करती ही हैं, मानवीय संवेदना और ऊष्मा को बचाए रखने की कवायद भी करती हैं। ये दरअसल मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की कहानियां हैं।

वनमाली सृजनपीठ परिवार की ओर से प्रशांत सोनी, हरि भटनागर, अरुणेश, मोहन सगोरिया, विक्रांत भट्ट तथा स्पंदन की ओर से उर्मिला शिरीष आदि ने अतिथियों का फूलों से स्वागत किया। कार्यक्रम का संचालन कथाकार पंकज सुबीर ने किया। आभार माना कवि महेन्द्र गगन ने। इस मौके पर राजधानी के साहित्यिक सांस्कृतिक सामाजिक और शैक्षणिक जगत के अनेक गणमान्यजन मौजूद थे।

समकाल से जुड़ते पाँचवी सदी के प्रश्न

श्रीराम सेंटर, दिल्ली में युवा नाट्य समारोह के दौरान नाटककार प्रताप सहगल के नाटक 'अन्वेषक' का मंचन हुआ। यह नाटक महान गणितज्ञ आर्यभट्ट के जीवन पर आधारित है। ऐतिहासिक वृत्त से जुड़े इस कथानक में नाटककार का मूल उद्देश्य इस ऐतिहासिक प्रतिभा के जीवन संघर्षों को सामने लाना रहा है। इतिहास के दरवाज़े में दाखिल होकर जो सत्य सामने आता है वह यह कि नवीन प्रयोगकर्ताओं की राह सुगम और सरल कभी नहीं रही है। अपवाद भी हो सकते हैं पर अधिकांश प्रयोगधर्मी व्यक्तित्व अपने प्रयोगों और सोच में परम्परागत ज्ञानधाराओं को चुनौती देते रहे हैं। प्रयोग इसी भूमि से दिशा पाता है। परम्परागत ज्ञानधाराओं को प्रश्नांकित कर नये आयाम योजना जो वर्तमान की दृष्टि से ज़रूरी हों और भविष्य का मार्ग प्रशस्त करते हों।

'अन्वेषक' नाटक इसी भूमि से उठता है और कहीं न कहीं गिरीश कर्नाड के 'तुग़लक' और ब्रेख्त के 'द लाइफ ऑफ गैलिलियो' की अगली कड़ी बन जाता है। यह नाटक शिल्प की दृष्टि से काफ़ी कसा हुआ है। जहां एक ओर इसकी भाषा वर्तमान से अतीत की यात्रा कराती लगती है, वहीं पांचवीं शताब्दी के आर्यभट्ट का पूरा समय भी सामने ले आती है। पर संस्कृतनिष्ठ कलेवर में भी यह नाटक गूढ़ अभिव्यक्ति का जंजाल नहीं बनता दर्शकों के लिए। इसी तरह 'आर्यभट्टीय' को सामने लाने पर नाटककार ने विस्तृत शोध का अनावश्यक मोह त्यागकर संक्षेप में उसमें निहित सामग्री का उल्लेख कर दिया है।

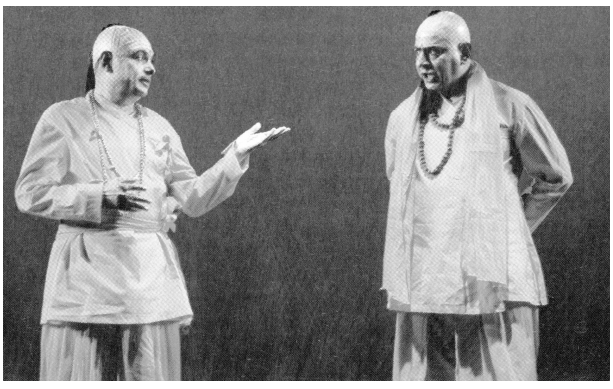

नाटक यों तो अपने कलेवर में सम्वाद, गीत, घटनात्मक द्वंद्व की निर्मिति करता चलता है। चिंतामणि-चूड़ामणि के जनता को भड़काने और ब्राह्मणवाद की ध्वजा फहराने के दृश्य में नाटक अचानक नुक्कड़ नाटक में काम आने वाली युक्तियों से सहज जुड़ जाता है। मंच पर विरोध के नारे लगाते हुए प्रदर्शन और सहसा ही इस प्रसंग का वर्तमान समाज की धर्मांधता और अंधविश्वास से जुड़ जाना नाटक को समकालीन स्वर देता है। पांचवीं शताब्दी की कथा कैसे 2016 की कथा बन जाती है, नाटक इस पूरी कड़ी को दर्शक के सामने ले आता है। 'धर्म की रक्षा-हम करेंगे, हम करेंगे! धर्म के लिए हम मरेंगे, हम मरेंगे!' या फिर- 'ब्राह्मण धर्म को जो तोड़ेगा, वही हमारा शत्रु है! संस्कृति के शत्रुओं से - सावधान, सावधान।'

दृश्य रचना में एक मौलिक प्रयोग हुआ है। आरम्भ में रंगमंच के जयघोष पर आधारित गीत संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा से जुड़ता है और बाद ही नट-नटी प्रसंग आपको वर्तमान की दहलीज पर लाकर नाटक दिखाने का तर्क प्रस्तुत करता है। इसमें निर्देशक ने बातचीत का क्रम रचते हुए नोटबंदी का कथन जोड़कर उसे आज से अतीत में ले जाने का काम किया। युवा नाट्य समारोह के दौरान अतुल जस्सी के निर्देशन में हुए इस नाटक में निर्देशक ने एक और प्रयोग किया। यहां भी गीत है, नटी सम्वाद है पर सबसे पहले स्क्रीन पर ब्रह्माण्ड उभरता है और साथ ही रिकॉर्डेड संगीत बजता है। सौरमंडल की पूरी यात्रा के दौरान दर्शक-दीर्घा से आर्यभट्ट चलते हुए स्क्रीन के ऐन सामने आता है। मानो सौरमंडल का हिस्सा हो। हालांकि ये संगीत और दृश्य काफी खिंचता है, बावजूद इसके दृश्य प्रभावी है। मंच पर पूरी सभा फ्रीज है और आर्यभट्ट का चेहरा और आवाज़ उभरते हैं। पत्र के बाद रौशनी केतकी पर पड़ती है और नाटक का अंत होता है। पर इस प्रस्तुति में पत्र समाप्ति के बाद फिर से स्क्रीन पर ब्रह्माण्ड का उभरना और आर्यभट्ट का 'आर्यभट्टीय' को जनता को सौंपने पर नाटक समाप्त होता है।

नाटक के अभिनव पक्ष की बात करें तो राजा बुधदेव की भूमिका में रमेश खन्ना, चिंतामणि की भूमिका में रवि तनेजा, चूड़ामणि की भूमिका में ऋषि शर्मा और आर्यभट्ट की भूमिका में गौरव ग्रोवर का अभिनय प्रशंसनीय रहा। नटियों की भूमिका में शोभा, संगीता और शालू का अभिनय जहां ऊर्जा से भरपूर था, वहीं प्रमुख किरदार केतकी की भूमिका में प्रीति शर्मा का अभिनव और स्वर प्रवाह प्रभावित नहीं कर पाया। उनकी प्रस्तुति सपाट रही। इस प्रस्तुति की खासियत यह भी रही कि इसके मुख्य पात्र प्रौढ़ वय नहीं, अभिनय प्रमुख होता है पर इस प्रस्तुति में वय के कारण अनुभव की प्रौढ़ता और बॉडी लैंग्वेज भी अपना असर छोड़े बिना नहीं रही। खासतौर पर रमेश खन्ना और रवि तनेजा की मंच उपस्थिति। जगदीश और दालचंद की वेशभूषा परिकल्पना इस प्रस्तुति के साथ न्याय कर सकी। **-प्रज्ञा**

संतूरी शाम

म.प्र. संस्कृति संचालनालय द्वारा कलाओं में परम्परा, नवप्रयोगों के लिए स्थापित ''उत्तराधिकार'' श्रृंखला का आयोजन भोपाल के जनजातीय संग्रहालय में किया गया। वादन के साथ ही गायन की सभा आयोजित हुई। शुरुआत संतूर वादिका श्रुति अधिकारी ने अपने सुपुत्र श्री निनाद अधिकारी के साथ संतूर जुगलबंदी प्रस्तुत कर की। संतूर वादन का आरम्भ राग-रागेश्री में आलाप, जोड़ झाला, ताल रूपक में एक बंदिश तीन ताल में मध्यलय तथा द्रुत बंदिश के साथ की। उत्तराधिकार में यह संयोग रहा कि मंच पर माँ-बेटे ने एक ही माध्यम में अपनी प्रस्तुति दी। आपके साथ दो युवा तबला वादकों ने संगत की हर्षित सोनी एवं अशेष उपाध्याय ने। इसी के साथ बनारस घराने की प्रतिभाशाली कलाकार स्नेहलता मिश्रा ने गायन की प्रस्तुति दी। आरम्भ मिश्र खमाज में ठुमरी से किया, जिसके बोल थे ''सांवरिया को देखे बिना नाही चैन''। अगली प्रस्तुति में मिश्र चारूकेशी में दादरा के साथ की जिसके बोल थे ''सैंय्या मोरारे'', इसके बाद राग पीलू में दादरा की प्रस्तुति दी, जिसके बोल थे ''तोहे लेके सांवरिया''। राग भिन्न षड्ज में ''मोरे सैय्या बेदर्दी, कदर ना जाने'' से की। आपने मीरा भजन के साथ अपनी सभा का समापन किया, बोल थे ''माई री मैं तो गिरधर के घर जाऊँ''। तबले पर संगत दी ख्यात तबला वादक जयशंकर मिश्रा ने एवं हारमोनियम पर संगत दी भोपाल के उस्ताद जमीर हुसैन खाँ ने।

गायन और नृत्य के भावभीने आयाम

म.प्र. संस्कृति संचालनालय द्वारा परिकल्पित 'उत्तराधिकार' की सभा में शास्त्रीय संगीत की प्रतिष्ठित कलाकार योजना शिवानन्द का गायन एवं ओडिसी नृत्य की दो प्रस्तुतियाँ हुईं। कोलकाता से पधारी कलाकार रीना जाना ने अपनी प्रस्तुति की तथा उनके पश्चात् पूजा जेना का नृत्य हुआ। मुम्बई से पधारी योजना शिवानन्द ने अपने गायन में मुख्य राग के अलावा ठुमरी एवं मराठी संगीत की प्रस्तुतियों का चयन किया। वे भोपाल में प्रस्तुति के लिए पहली बार पधारी योजना को संगीत के क्षेत्र में लम्बा सक्रिय कार्यानुभव रहा है। वे मशहूर ऑडियो सीडी कम्पनी एच.एम.व्ही. में दो दशक वरिष्ठ अधिकारी रही हैं तथा अनेक कलाकारों के श्रेष्ठ और लोकप्रिय एलबमों के निर्माण के पीछे उनकी सक्रिय तथा रचनात्मक भूमिका रही है। उन्होंने प्रस्तुति की शुरुआत राग मारूबिहाग से की। इसके बाद राग मराठी नाट्य पद, मीरा भजन, भैरवी ठुमरी के साथ ही मराठी नाट्य संगीत 'खरा तो प्रेमा' प्रस्तुत किया। हारमोनियम पर श्री मकरंद कुंडले, तबले पर श्री रामकृष्ण करबेलकर, वायोलियन पर राजेन्द्र भावे ने संगत की। शुरुआत में रीना जाना ने अपनी मंगलाचरण से की, जिसमें उन्होंने भगवान जगन्नाथ को पुष्प अर्पित करते हुए श्रीराम की वन्दना की। वन्दना के उपरान्त उन्होंने पल्लवी नृत्य और मोक्ष शीर्षक रचनाओं की प्रस्तुति की। रीना का नृत्य प्रदर्शन संगतकारों के साथ लाइव था तथा उनकी अपनी तैयारी और आत्मविश्वास उनके सराहनीय नृत्य प्रदर्शन का एक मूल पक्ष माना जायेगा। आपके साथ मर्दल पर प्रफुल्ल मगराज, वायोलियन पर गोपीनाथ स्वांई, बाँसुरी पर धीरज पाण्डेय, मंजीरा पर कोशिकदास ने संगत की तथा गायन प्रशान्त बेहरा ने किया। दूसरी प्रस्तुति में भुवनेश्वर से पधारी पूजा जेना ने वन्दना के बाद कोणार्क मन्दिर के इतिहास एवं परम्परा से जुड़ी रचना 'कोणार्क कान्ति' का शुद्ध नृत्य में प्रदर्शन किया। इस प्रस्तुति के पश्चात् उन्होंने 'मधुराष्टका' नृत्य में प्रदर्शन करते हुए श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं को अभिनय एवं चेष्टाओं के माध्यम से प्रदर्शित किया। आपका प्रदर्शन सी.डी. के माध्यम से था तथा मंच पर सहयोगी नृत्य कलाकार पंकज कुमार प्रधान आपके साथ थे।

जीवन में रंगी कविताएँ

भीमबैठका एकांत की कविता है

यहां ''शैल चित्रों के रंग हमारे जीवन के लम्हों को रंगते रहते हैं/ताकि फीकी न हो हमारी उमर/भीमबैठका सुंदरता की आदत है''।

हिन्दी के सुपरिचित कवि प्रेमशंकर शुक्ल ऐसे अनेक मनछूते कविता बिंबों के साथ भोपाल के स्वराज भवन में साहित्यप्रेमियों से मुख़ातिब हुए। वनमाली सृजन पीठ द्वारा संयोजित इस ''कृति उत्सव'' में हाल ही में प्रेमशंकर की नयी कविता पुस्तक ''भीमबैठका कविता का एकांत'' का लोकार्पण कवि-प्रशासक मनोज श्रीवास्तव, कथाकार-आलोचक संतोष चौबे, पुनराविशेषज्ञ नारायण व्यास, कवि गीत चतुर्वेदी और कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने संयुक्त रूप से किया। उल्लेखनीय है कि विश्व धरोहर के रूप में मशहूर पुरातात्विक वैभव को समेटे भीमबैठका पर सौ से भी ज़्यादा कविताएं रचकर प्रेमशंकर ने एक कीर्तिमान अर्जित किया है। इस लोकार्पण प्रसंग में साहित्य, संस्कृति, शिक्षा और प्रशासन जगत के अनेक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर मौजूद थे।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रसिद्ध कवि, कथाकार, संतोष चौबे ने कहा कि ''भीमबैठका'' को विषय बनाकर लिखी गयी ये कविताएं प्रेमशंकर की अंतर्विधायी दृष्टि का परिचय देती हैं। ग्रामीण संवेदनाओं के आस-पास रचा-बसा उनका मन प्रकृति, परिवेश और भाषा की सौंधी खुशबुओं के साथ कविता में रूपायित हुआ है।'' प्रख्यात पुरातत्वविद नारायण व्यास के अनुसार ''शुक्लजी की कविताएं भीमबैठका की अंधेरी खामोश गुफाओं से जीवन का उजाला समेट लायी हैं। वहां का हर पहलू कविता में उतर आया है।'' कवि और वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी मनोज श्रीवास्तव की राय में प्रेमशंकर का यह संग्रह धरोहर के प्रति हमारे सम्मान को गहरा तो करता ही है। युवा कवि-अनुवादक गीत चतुर्वेदी ने संग्रह की रचनाओं के हवाले से कहा कि यह सृजन कविता के भीतर भीमबैठका की खोज है। ये मनुष्यता के महास्वरूप से जुड़ी कविताएं हैं। कला आलोचक विनय उपाध्याय ने प्रेमशंकर के कवि व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू का खुलासा करते हुए कहा कि प्रेमशंकर का कवि मन पूरी परिपक्वता से इन रचनाओं में उद्घाटित हुआ है। यह भीमबैठका के बहाने अन्तर्यात्रा का भी प्रतीक है।

पुस्तक के लोकार्पण के साथ ही कवि प्रेमशंकर शुक्ल ने संग्रह से चुनी आधा दर्जन कविताओं का भावपूर्ण पाठ किया। छाया संवाद, छुअन सांस, धड़कन बाजा, सूर्य चित्र शीर्षक की कविताएं सुनाते हुए उन्होंने भीमबैठका के ऐतिहासिक, पुरातात्विक और सांस्कृतिक संदर्भों के कलात्मक पक्ष प्रकट किए। आईसेक्ट विश्वविद्यालय, स्पंदन, पहले-पहल, कला समय, विहान, रंग संवाद आदि संस्थाओं की ओर से प्रेमशंकर शुक्ल का अभिनंदन किया गया।

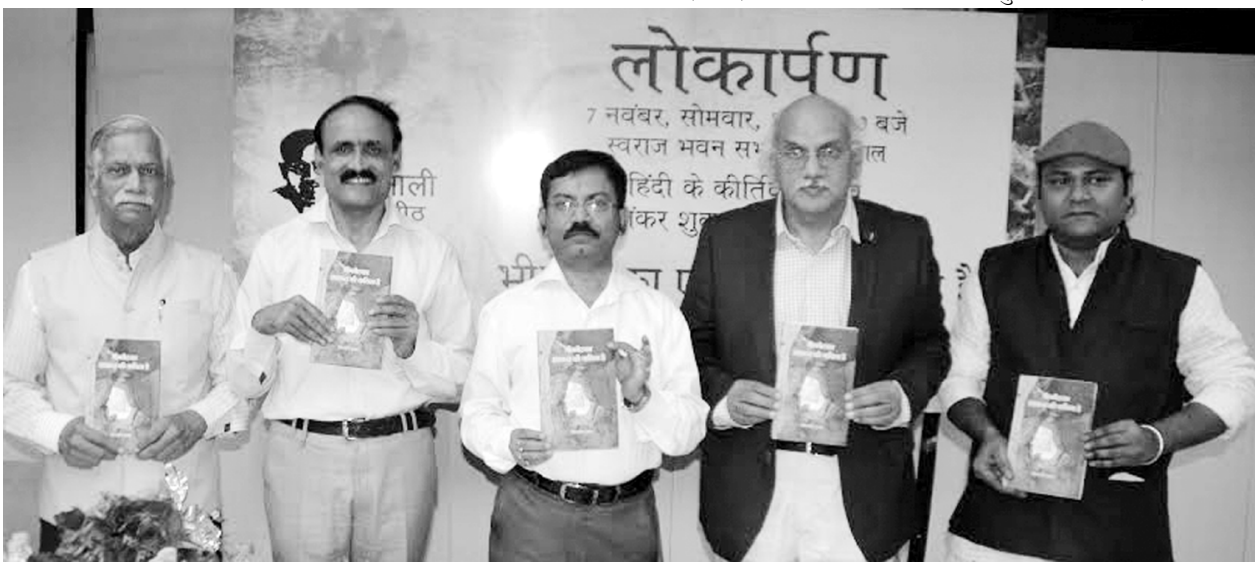

रंगमंच पर पहला भीली नाटक

प्रेम कथाओं का रोचक ताना-बाना

मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय द्वारा दो दिवसीय नाट्य समारोह भीली मिथक कथाओं पर आधारित 'हमु त माणसा रे' नाट्य रूपक का मंचन हुआ। रंगकर्मी-संगीतकार और शोधार्थी श्री भूषण भट्ट ने इसे लिखा है और संगीत परिकल्पना रंगकर्मी सुश्री अंजना पुरी की है इस प्रस्तुति के परिकल्पक तथा निर्देशक थे कन्हैयालाल कैथवास।

इस नाटक में मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के ही छठवें सत्र 2016-17 के कलाकार-विद्यार्थी हिस्सा ले रहे थे। यानी मंच और नेपथ्य के अधिकांश सूत्र इन्हीं प्रशिक्षु रंगकर्मियों द्वारा संचालित किये गये। इस सत्र के विद्यार्थियों की यह दूसरी नाट्य प्रस्तुति थी।

इस नाट्य रूपक की रचना नाट्य विद्यालय की भीलांचल श्रमशील कार्यशाला के दौरान संभव हुई। नाट्य विद्यालय का मानना है कि अपनी देशज परंपरा और संस्कृति में रचे-बसे और वहीं से सामाजिक-सांस्कृतिक संवाद के सूत्र तलाशते हुए भारत की नाट्य चेतना अनेक आयामों में उद्घाटित हुई है। इस अवधारणा के चलते विद्यालय के 25 विद्यार्थियों ने मध्यप्रदेश के आदिवासी बहुल अंचल झाबुआ का भ्रमण किया। लगभग एक महीने के इस प्रवास के दौरान वहाँ के भील आदिवासियों की बोली-बानी, परंपरा, परिवेश, संगीत-नृत्य और जीवन की व्यापक गतिविधियों को गहरी जिज्ञासा के साथ देखा-समझा। इस अनुभव के साथ दो भीली प्रेम कथाओं से अंतरंग होने का संयोग हुआ। इस प्रकल्प से जुड़े वरिष्ठ रंगकर्मी और संगीतकार श्री भूषण भट्ट ने इन वाचिक कथाओं को जोड़कर जिस नाट्य रूपक की रचना की गई है- हमु त माणसा रे।

दिलचस्प यह कि भील जनजाति समुदाय के पास अपनी बोली है, संगीत है, नृत्य है, वाचिक परंपरा से जुड़ी कथा गाथाएँ भी हैं, लेकिन इस बिरादरी को विरासत में कोई नाट्य परंपरा हासिल नहीं है। इस दृष्टि से देखें तो 'हमु त माणसा रे' के ज़रिये भीली नाट्य परंपरा की संभावना का एक क्षितिज भी खुला है। प्रचलित लोक कथाएं जो आज तक या तो गायन का हिस्सा थीं या फिर लोक चित्रकारी में लिखी जाती थीं, उनके किरदार और अलग-अलग पात्रों रविवार को मंच पर नया रूप लिया। एक कहानी मालकुंवर के बारे में थी, जो प्रेम को पाने के लिए हर हद से गुज़रने को तैयार था, वहीं दूसरी कहानी थी काठ्याकुंवर की, जिसने पानी की खोज के लिए अथक प्रयास किए। दोनों एक-दूसरे से बेहद भिन्न इन कथाओं का एक-दूसरे में बुना हुआ स्वरूप मंच पर कहानी के रूप में दिखाया गया। भूषण भट्ट द्वारा लिखित नाटक पर स्टूडेंट्स का अभिनय तारीफ़ के काबिल था। अंजना पुरी का संगीत संचालन जनजातीय पृष्ठभूमि से मेल खाता नजर आया। लोक अंचलों में इस्तेमाल होने वाले वाद्ययंत्र और लोकगीतों का प्रयोग नाटक को ख़ास बनाता नज़र आया। मंच सज्जा में प्रमुख भूमिका प्रमोद गायकवाड़ ने निभाई।

नाट्य प्रस्तुति इसलिए भी ज़्यादा ख़ास रही, क्योंकि भीली परंपरा और समुदाय को नज़दीकी से समझने के लिए नाट्य विद्यालय को स्टूडेंट्स ने खासी मेहनत की। पहले तो स्टूडेंट्स ने 25 दिनों का समय झाबुआ जाकर भीली समुदाय के बीच बिताया, उनके लोक में बसी कहानियों को समझा और फिर उनके रहन-सहन को रंगमंच तक लेकर आए। प्रस्तुति में मंच की डिजाइनिंग भी बेहद ख़ास रही, जिसने ग्रामीण परिवेश को खूबसूरती से पिरोया।

प्रस्तुति के उपरांत भारतीय पुलिस सेवा के वरिष्ठ अधिकारी अनुराधा शंकर और पवन जैन ने निर्देशक और अन्य सभी कलाकारों का पुष्पों से स्वागत किया। इस मौके पर नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय भी मौजूद थे।

कुचिपुड़ी कार्यशाला

भोपाल स्थित प्रतिभालय आर्ट्स अकादमी में दो दिवसीय कुचीपुड़ी कार्यशाला हुई। इस कार्यशाला में आन्ध्रप्रदेश के कलाकार दुर्गा राव जी एवं शेष करीमुल्ला जी (एम.ए. कुचीपुड़ी) द्वारा कुचीपुड़ी नृत्य की जानकारी दी गई, साथ ही इस नृत्य के बेसिक स्टेप्स भी सिखाए गए। उन्होंने बताया कि, कुचीपुड़ी नाम गाँव के ऊपर पड़ा, जहाँ के रहने वाले ब्राह्मण इस पारंपरिक नृत्य का अभ्यास करते थे। उन्होंने बताया कि परंपरा के अनुसार यह नृत्य मूलतः केवल पुरुषों द्वारा किया जाता था। नृत्य का प्रदर्शन भी एक खास परंपरागत तरीके से होता है। मंच पर परंपरागत पूजन के पश्चात् प्रत्येक कलाकार मंच पर प्रवेश करता है और एक खास लयबद्ध रचना धारवु के द्वारा अपना पात्र-परिचय देता है। नृत्य के साथ कर्नाटक संगीत में निबद्ध गीत, मृदंगम, वायलिन, बाँसुरी और तम्बूरा इत्यादि वाद्ययंत्रों के साथ नृत्य में सहयोगी भूमिका निभाता है और कथानक को भी आगे बढ़ने में सहायक होता है। नृत्य की वर्तमान शैली कुछ मानक ग्रंथों पर आधारित है। जिनमें से प्रमुख हैं- नंदिकेश्वर रचित अभिनय दर्पण और भरतार्णव। कार्यशाला में प्रतिभागियों का उत्साह देखते ही बना। कार्यशाला के प्रथम दिवस ही 68 प्रतिभागियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। अकादमी की निदेशक मंजू मणि हतवलने ने बताया कि कुचीपुड़ी नृत्य पर आयोजित भोपाल में यह पहली कार्यशाला है और अकादमी का भविष्य में भी यह प्रयास रहेगा कि देश-विदेश की कला-संस्कृति से अकादमी के कलाकारों एवं युवाओं को रूबरू कराते रहें।

दुष्यन्त संग्रहालय में शब्द-शिल्पियों का सम्मान

दुष्यंत कुमार स्मारक पांडुलिपि संग्रहालय द्वारा दिया जाने वाला वर्ष 2017 का प्रतिष्ठित दुष्यंत कुमार अलंकरण व्यंग्य विधा के प्रख्यात रचनाकार डॉ. प्रेम जनमेजय को दिया गया। जबकि सुदीर्घ साधना के लिए पद्मश्री से सम्मानित प्रख्यात कथाकार मेहरुन्निसा परवेज़ को नवाजा गया। आंचलिक भाषा में श्रेष्ठ लेखन के लिए बघेली के चर्चित साहित्यकार डॉ. शिवशंकर मिश्र 'सरस' अलंकृत हुए। संग्रहालय के वार्षिक अलंकरणों की घोषणा संग्रहालय परिषद् की बैठक में की गई। इन अलंकरणों के साथ ही संग्रहालय की ओर से गत वर्ष से संग्रहालय के दिवंगत पदाधिकारियों की स्मृति में 'स्मृति सम्मान' भी प्रदान किए जाते हैं। कमलेश्वर सम्मान डॉक्टर उर्मिला शिरीष को, डॉक्टर कन्हैयालाल नंदन सम्मान डॉ. प्रीति प्रवीण खरे को, विट्ठल भाई पटेल सम्मान सजी सिंह को, राजेंद्र जोशी सम्मान डॉ. पुष्पेंद्र पाल सिंह को, डॉ. सुषमा तिवारी सम्मान अनीता सक्सेना को, ब्रज भूषण शर्मा सम्मान शिवानी घोष को, अखिलेश जैन सम्मान द्रौपदी चंदवानी को, डॉक्टर बाबूराव गुजरे सम्मान रमेशनंद को, डॉक्टर विजय शिवढोणकर सम्मान कला समीक्षक विनय उपाध्याय को और अंश लाल पन्द्रे सम्मान रामराव वामनकर को प्रदान किया गया।

यह अलंकरण संग्रहालय द्वारा 28 से 30 दिसंबर तक आयोजित तीन दिवसीय समारोह में प्रदान किए गए। स्थापना दिवस के अवसर पर आयोजित तीन दिवसीय समारोह में 28 दिसंबर को दुष्यन्त कुमार स्मारक व्याख्यान का आयोजन किया गया। जबकि 29 दिसंबर को अलंकरण समारोह में डॉ. प्रेम जनमेजय, श्रीमती मेहरुन्निसा परवेज और डॉक्टर शिव शंकर मिश्र सरस को अलंकृत किया गया। समारोह के तीसरे दिन 30 दिसंबर को स्मृति अलंकरण प्रदान किए जाएंगे।

नगरकर से 'प्रत्यक्ष'

मैंने भले ही अंग्रेजी में ज्यादा लिखा है पर मराठी सहित सभी भाषाओं से अपार प्रेम करता हूँ। मराठी भाषा में मेरे पहले उपन्यास सक्कम त्रेचालीस को आज मराठी साहित्य में महत्वपूर्ण कृति माना जाता है। यह मेरे लिए अपार गर्व का विषय है।

यह बात अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के अंग्रेजी-मराठी उपन्यासकार किरण नगरकर जी ने भोपाल में कही। वे मध्यप्रदेश मराठी अकादमी द्वारा आयोजित 'प्रत्यक्ष भेंट' शीर्षक में अनौपचारिक चर्चा सत्र को स्वराज भवन में सम्बोधित कर रहे थे। उन्होंने अपने जीवन और सृजन यात्रा के अनेक खट्टे-मीठे संस्करणों और अनुभवों को साझा किया।

नगरकर ने अपनी अन्य महत्वपूर्ण स्मृतियों रावण एण्ड ऐडी, बैंड टाउस स्टोरी से लेकर विश्व की अनेक चर्चित हस्तियों जैसे चे, हो चिम्हित, फिदेल कास्त्रो, टॉल्स टॉय का जिक्र करते हुए कहा कि इन हस्तियों ने मुझे बहुत प्रेरणा दी है साथ ही जीवन का दर्शन भी समझाया है। आपने बाद में 'रावण एंड एडी' की पार्श्वभूमि भी समझाई। कार्यक्रम के पहले रंगकर्मी विवेक सावरीकर तथा अपूर्वा मुक्तिबोध ने लेखक का परिचय दिया। मराठी साहित्य अकादमी के निदेशक अश्विन खरे ने नगरकर जी का स्वागत किया।

'अभिनयन' में 'उद्भ्रांत'

म.प्र. संस्कृति विभाग द्वारा जनजातीय संग्रहालय, भोपाल में, रंगमंच में नये प्रदर्शनों को प्रोत्साहित करने के लिए एक नयी श्रृंखला अभिनयन की शुरुआत संस्कृति विभाग के ही तैयार प्रोडक्शन नृत्य-नाट्य 'उद्भ्रान्त' से हुई जिसका हाल ही में पहला प्रदर्शन सांची में हुआ था।

उद्भ्रान्त तथागत बुद्ध की एक जातक कथा पर आधारित है जिसका कालखण्ड हजारों वर्ष पूर्व ब्रह्मदत्त के राजकाज के समय से जुड़ता है। कहा जाता है तब तथागत बुद्ध के जीवन और सन्देश को अनेकानेक जातक कथाओं के माध्यम से प्रवहमान किया गया था। ये सच्ची कथाएँ थीं जिनमें कोई न कोई प्रेरणा और हर पीढ़ी के लिए सन्देश निहित रहा है।

इस प्रस्तुति में जंगल का जीवन है जिसमें अनेक प्रकार के प्राणियों का वास है और वे सबके सब एक साथ अपने मैत्रीभाव के साथ रहते हैं। जंगल का राजा शेर है जो प्राणियों को उनकी अनुकूलताओं और सहज जीवनआचरण में रहने की परिस्थितियाँ उपलब्ध कराता है। एक दिन एक शूकर उन्हें लड़ने के लिए ललकारता है, यह कहते हुए कि वह उन्हें परास्त कर देगा। अपनी क्षमताओं और प्रभाव में आश्वस्त शेर, शूकर को इस दुस्साहपूर्ण बरताव के लिए बाज आने की चेतावनी देते हैं लेकिन मूर्ख शूकर पर इसका असर नहीं होता। अपनी असभ्यता में शूकर इस सीमा तक जाता है कि दोनों की लड़ाई

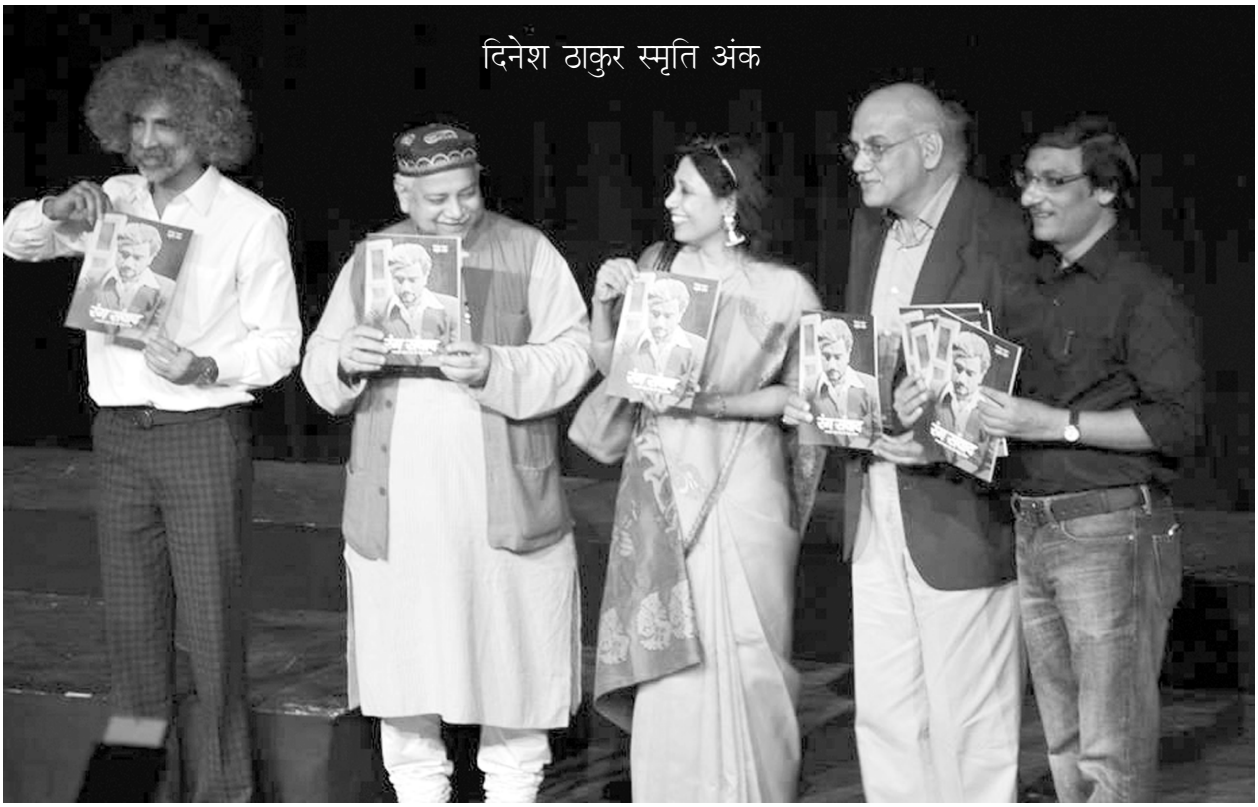

मुंबई के नाट्य समूह 'अंक' द्वारा रंगकर्मी दिनेश ठाकुर स्मृति तीन दिवसीय नाट्य समारोह का आयोजन भोपाल स्थित भारत भवन में विहान कला समूह के सहयोग से आयोजित किया गया। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ की सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' के दिनेश ठाकुर एकाग्र अंक का लोकार्पण साहित्यकार-संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे, वरिष्ठ रंगकर्मी अतुल तिवारी, रंगमंच और सिनेमा के मशहूर अभिनेता मकरंद देशपाण्डे, अंक की संयोजक और अभिनेत्री प्रीता माथुर ठाकुर तथा संपादक विनय उपाध्याय ने मिलकर किया।

का एक दिन तय हो जाता है। बाद में जंगल के अन्य प्राणीशूकर को नसीहत देते हैं, लानत भेजते हैं और दुर्बुद्धि त्याग कर सद्बुद्धि का बरताव करने का सुझाव देते हैं पर शूकर की अक्ल पर पत्थर पड़ गये हैं।

प्रस्तुति में यह दिलचस्प है कि आखिर में शूकर को उसके हाल पर छोड़कर जंगल के सब प्राणी, जंगल में शान्ति कायम करने के लिए शेर की शरण में जाते हैं और मूर्ख शूकर की उद्भ्रान्तता के लिए क्षमा मांगते हैं। यह नाटक बड़ों और बच्चों दोनों के लिए प्रेरणा का काम करता है। निर्देशक बालेन्द्र सिंह ने इसे वन के अनेक प्राणी चरित्रों के साथ, सुन्दर सुरुचिपूर्ण मुखौटे और वेशभूषा के साथ मंच पर प्रस्तुत करने का काम किया है। नाटक की संगीत रचना मॉरिस लाजरस ने की है। मुखौटों के निर्माण का कुशल कार्य उज्जैन के गुणी कलाकार अब्दुल गफूर ने किया है। सीमा मोरे की रूपसज्जा और सोनू साहा तथा राकेश की वेशभूषा अनुकूल और प्रशंसनीय है। यह प्रस्तुति शुरू से अन्त तक बांधे रखती है और प्रेरणा सम्प्रेषित करती है। लगभग एक घण्टे दस मिनट की इस प्रस्तुति में पार्श्व दृश्यों के लिए एलईडी का प्रयोग सार्थक है।

अभिरंग का नाटक पुरस्कृत

भारत सरकार के प्रतिष्ठान भारत कंटेनर निगम लिमिटेड द्वारा आयोजित सतर्कता जागरूकता सप्ताह 2016 के अन्तर्गत हुई नाट्य प्रतियोगिता में हिन्दू कॉलेज, दिल्ली की नाट्य संस्था अभिरंग ने पहला स्थान प्राप्त किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स में हुई इस प्रतियोगिता में छह कॉलेजों श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, श्री अरविंदो कॉलेज, रामलाल आनंद कॉलेज, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, सेंट स्टीफंस कॉलेज और हिंदू कॉलेज ने भाग लिया था। अभिरंग ने नाटककार शिवराम के चर्चित और बहुमंचित नाटक 'जता पागल हो गई है' के लिए पच्चीस हजार रुपये का पहला पुरस्कार जीता।

नाटक के निर्देशक युवा रंगकर्मी और शिवराम की नाट्य मंडली के सदस्य आशीष मोदी थे। अभिरंग के परामर्शदाता पल्लव ने बताया कि भ्रष्टाचार के विरुद्ध सतर्कता के निमित्त आयोजित इस प्रतियोगिता में शिवराम के नाटक में पागल की भूमिका में आशुतोष कुमार शुक्ल, जनता की भूमिका में - पियूष पुष्पम, नेता की भूमिका में शिवानी, पूंजीपति की भूमिका में- पूजा, पुलिस अधिकारी की भूमिका में - स्नेहदीप और सिपाहियों की भूमिका में राहुल, दीपिका, जागृति ने अपने जीवंत अभिनय से दर्शकों को खासा प्रभावित किया। नेपथ्य सहयोग में चंचल सचान और अन्य विद्यार्थी थे। सभागार में भारत कंटेनर निगम लिमिटेड के अध्यक्ष एवं प्रबंध निदेशक, मुख्य सतर्कता अधिकारी, निदेशक, प्रख्यात जूरी सदस्यों, कॉनकोर के अधिकारियों, मीडिया और शिक्षा विरादरी के प्रतिनिधि उपस्थित थे। निर्णायक मंडल में श्री रॉबिन आईपीएस (दिल्ली पुलिस), श्री आलोक शुक्ला (थिएटर अभिनेता, लेखक, निर्देशक और पत्रकार) और श्रीमती रत्नी बाली कांत (मूर्तिकार और प्रदर्शन कलाकार) थे।

नाटक समूह की अभिव्यक्ति है

'कहानी लिखना एक व्यक्ति की निजी गतिविधि हो सकती है लेकिन नाटक और रंगमंच के साथ ऐसा नहीं है। नाटक रंगमंच पर आकर अपना वास्तविक आकार ग्रहण करता है जिसमें निर्देशक और नाटक से जुड़े तमाम लोग अर्थ भरते हैं।' हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार और नाटककार स्वयंप्रकाश ने दिल्ली हिन्दू कॉलेज की हिंदी नाट्य संस्था 'अभिरंग' के उद्घाटन समारोह में

कहा कि युवा पीढ़ी नाटक के क्षेत्र में भी रुचि लेकर आगे आ रही है यह सचमुच उल्लेखनीय बात है जिसका स्वागत किया जाना चाहिए। उन्होंने इस अवसर फर अपनी चर्चित कहानी 'गौरी का गुस्सा' का पाठ किया जिसमें उपभोगवादी नयी जीवन व्यवस्था पर गहरा व्यंग्य किया गया है।

कहानी पाठ के बाद पूछे गए एक सवाल के जवाब में स्वयंप्रकाश ने कहा कि मैं पिछले पैंतालीस साल से कहानियाँ लिख रहा हूँ और एक दिन अचानक लिखते-लिखते मुझे ख्याल आया कि वह क्या चीज़ है जो लोककथाओं को बरसों बरस ज़िंदा रखती है? मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि एक तो लोककथाओं का कथ्य सर्वकालिक होता है। स्वयंप्रकाश ने अभिरंग के सूचना पट्ट का अनावरण भी किया। श्री पल्लव ने अभिरंग के इतिहास तथा अभिरंग की गतिधियों के बारे में बताया। आयोजन के अध्यक्ष विभाग के वरिष्ठ आचार्य डॉ. अभय रंजन ने फूलों से कथाकार स्वयंप्रकाश का स्वागत किया।

खामोश हो गया चन्द्रसारंग!

संगीतकार रणजीत बनर्जी का 28 नवंबर को मुम्बई के गांधी अस्पताल में निधन हो गया। रणजीत बाबू के स्वर्गीय होने की खबर राष्ट्रीय सुर्खियां नहीं बनी। जबकि संगीत की दुनिया के वे पुरातत्वीय महत्व के व्यक्ति थे। अद्भुत शास्त्रीय साज चंद्रसारंग के एक मात्र साधक थे वह भी समूचे विश्व में। उनके निधन के साथ ही चंद्रसारंग का शास्त्रीय संगीत इतिहास बन गया। चंद्रसारंग का आविष्कार पद्म विभूषण उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब ने किया था। उनके निर्देशन में सिर्फ तीन साज़ ही बन पाए थे। जिसमें से एक तार कसने में तभी टूट गया था बचे दो, एक बाबा खुद बजाते थे और दूसरा रणजीत बाबू को दिया वे रीवा में रहकर जिन्दगी भर इसकी साधना करते रहे। बाबा चंद्रसारंग मैहर के म्यूजियम में है और अब रणजीत बाबू का रीवा के द्वारका नगर स्थित उस वीरान घर में जिसमें रहते हुए उन्होंने एक योग्य शिष्य की तलाश में जिन्दगी भर तन्हाई काटी।

विन्ध्य तानसेन की साधना भूमि रही है यह जगजाहिर है। रणजीत बाबू से साक्षात्कार बाबा द्वारा आविष्कृत चंद्रसारंग की जिग्यासा को लेकर हुआ। रणजीत बाबू की जिन्दगी का तीन चौथाई हिस्सा रीवा व मैहर में बीता। वे बाबा अलाउद्दीन के सानिध्य में ग्यारह बरस की उमर में आए। 1934-35 के आसपास। रणजीत बाबू की साधना से प्रभावित बाबा ने 1952 में चंद्रसारंग सौंपा। 10 साल की कठिन साधना के बाद रणजीत बाबू ने 1962 में भोपाल के रवीन्द्र भवन में पहली प्रस्तुति दी। इसके बाद वे संगीत जगत में चंद्रसारंग के पर्याय हो गए। लेकिन घर परिवार की मजबूरियों के चलते पं. रविशंकर, अमजद अली खां की तरह मैहर छोड़कर बाहर नहीं निकल सके। कला के क्षेत्र में स्थान व गुन के गाहकों का बड़ा महत्व होता है। मेधावी रणजीत बाबू जिन्दगी भर इससे वंचित रहे। रणजीत बाबू को जीते जी इस बात का अफसोस बना रहा कि उन तक कोई ऐसा संगीत साधक नहीं पहुंचा जिसे वे चंद्रसारंग की अनमोल विरासत सौंप सकते। साक्षात्कार के समय रणजीत बाबू द्वारा चंद्रसारंग में छेड़ी गई वह अमर धुन संसार है इक नदिया सुख-दुख दो किनारे हैं... रह-रह कर गूंजती रहेगी। **-जयराम शुक्ल**

लीला परिष्कार

रामलीला की मध्यप्रदेश में भी कई ऐसी पारंपरिक मंडलियां हैं, जो घूम-घूमकर मंचन करती रहती हैं। प्रदेश सरकार की पहल पर अब लीला परिष्कार नाम से इन मंडलियों की गुणवत्ता बढ़ाने का सिलसिला शुरू हुआ है। इस कड़ी में अबकी साल बारी थी सतना जिले के ओम नारायण मिश्र की अगुआई वाली विश्वेश्वर रामलीला मंडली की। इसके 20-25 कलाकारों की चित्रकूट में महीने भर की कार्यशाला लगाई गई और मध्य प्रदेश नाट्य विद्यालय के संजय उपाध्याय की देखरेख में क विधाओं के 10 विशेषज्ञों ने उनके काम को निखारा। भक्ति और आस्था भाव से लीला करते आए कलाकार शुरू में हिचके पर फिर खुल गए। 13 प्रसंगों में रात भर चलने वाली उनकी लीला अब राम अवतार से राज्याभिषेक तक 6 प्रसंगों में 2 से 2.30 घंटे में ज्यादा निखरकर आने लगी। संगीत, प्रकाश, वेशसज्जा सब पर काम हुआ। 25 लाख रु. में 8 नए परदों और कॉस्ट्यूम समेत तमाम नई सामग्री उन्हें दी गई। उपाध्याय बताते हैं, ''एक-एक प्रसंग देखते हुए उनके हर पहलू पर काम किया गया। अब परिष्कृत साज, टेक्स्ट और सामग्री के साथ वे दस साल तक तो आराम से मंचन कर सकते हैं।'' 29-31 अक्टूबर तक चित्रकूट में नई लीला का मंचन हुआ।

'ओम' के नाद में डूबा 'नादस्वरम्'

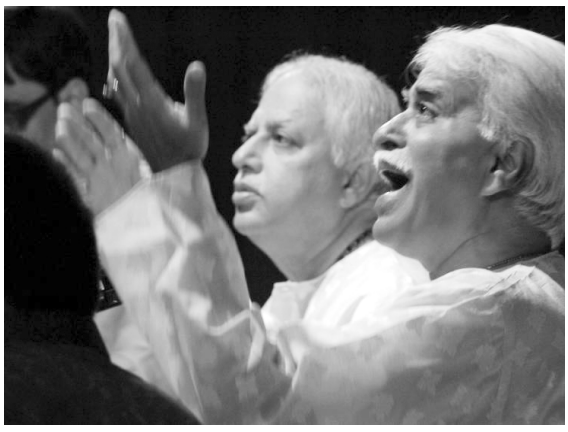

कहते है कि 'ओम' शब्द असीम शांति का पर्याय है। लोग अक्सर सुबह और शाम के वक्त इसका लयबद्ध उच्चारण कर चित्त को शांत करने का प्रयास भी करते हैं। लेकिन, सधे हुए सुर में संगीतबद्ध ढंग से 'ओम' नाद को सुनाना आपको असीम शांति देता है। ऐसा ही नजारा भोपाल के करुणाधाम आश्रम में देखने को मिला जब शाम के वक्त पद्मभूषण मिश्र बंधुओं ने 'ओम' के आलाप के साथ शास्त्रीय संगीत संध्या 'नादस्वरम्' का शंखनाद किया। सभागार में गूंजता राजन-साजन मिश्र का 'ओम' का आलाप दर्शकों को असीम शांति तक गहराई तक लेगा। सिर्फ एक ही स्वर पूरे वातावरण में गूंजता रहा वह था 'ओम'। इस शास्त्रीय सभा का आयोजन करुणाधाम आश्रम के पित्र पुरुष ब्रह्मलीन बड़े गुरुदेव बालगोविंद शांडिल्य महाराज के 88वें जन्मदिन की पूर्व संध्या पर किया गया। यहां मिश्र बंधु की स्वर लहरियों ने औषधि का काम किया। ठहरी हुई गंभीर आवाज में आलाप लेते हुए श्रोता शांति के असीम सागर में गोते लगाते रहे। उनकी चेतना सांसारिक जगत में तब लौटी, जब उन्होंने ओम आलाप को विराम दिया।

आलाप से विराम लेते ही बड़े भाई राजन मिश्र ने सभागार में मौजूद लोगों से मुखातिब हुए और कहा 'संगीत पूजा है, इबादत है, ख्याल गायन तो दो-चार घंटे चलता ही है, लेकिन आज इतना लंबा नहीं है, कुछ छोटी रचनाएं और भजन फिर आप जो कहें, वो पेश करूंगा।' शुरुआत राग यमन पर केंद्रित बंदिश को मध्य लय की तीन ताल से की। इसके बाद 'दर्शन दो जगदम्बे मां...' की प्रस्तुति यमन कल्याण में विलंबित ख्याल में शुद्ध रूप में पेश की। अंत में 'करणेश्वरी मण्डपम्' से माहौल को भक्तिपूर्ण कर दिया। इसी कड़ी में मिश्र बंधुओं के दिल्ली से पधारे शिष्यों ने शास्त्रीय संगीत की समूह गान की प्रस्तुति दी। गुरु वंदना से शुरू करते हुए पूरियाधनाश्री में निबद्ध गुरुदेव सुदेश शांडिल्य की भक्ति रचना 'संसार की इस भीड़ में' गाकर समारोह को सुरीली चहक-महक प्रदान की। सभा का संचालन विनय उपाध्याय ने किया।

राष्ट्रीय वनमाली कथा सम्मान 2017

मालती जोशी, मुकेश वर्मा, अल्पना मिश्रा, मनीषा कुलश्रेष्ठ, तेजिंदर, पंकज मित्र, रोहिणी अग्रवाल, जयप्रकाश और पल्लव का अलंकरण

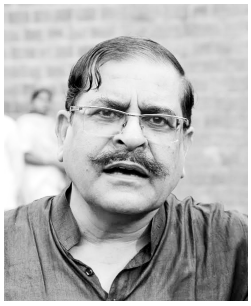

कहानी, आलोचना और साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में श्रेष्ठ रचनात्मकता को चिन्हित और पुरस्कृत करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित वनमाली सम्मान-2017 के लिए निर्णायक ज्यूरी ने समग्र साहित्यिक योगदान के लिए हिंदी की अग्रणी कथाकार मालती जोशी (भोपाल) का चयन राष्ट्रीय वनमाली कथा सम्मान के लिए किया है। वहीं समकालीन कथा लेखन के परिदृश्य में बहुचर्चित अल्पना मिश्र (गाजियाबाद), मनीषा कुलश्रेष्ठ (जयपुर), मुकेश वर्मा (भोपाल), तेजिंदर (रायपुर) और पंकज मित्र (रांची) सम्मानित किये जा रहे हैं। कथा आलोचना सम्मान के लिए रोहिणी अग्रवाल (रोहतक) और जयप्रकाश (दुर्ग) और साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान के लिए दिल्ली से प्रकाशित पत्रिका 'बनासजन' (संपादक- पल्लव, नई दिल्ली) का चयन हुआ है। सम्मान के तहत रचनाकार को निर्धारित सम्मान निधि, उत्कीर्ण प्रशस्ति और प्रतीक चिह्न भेंट किये जाते हैं। साहित्य और संस्कृति की मानक संस्था वनमाली सृजन पीठ, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, भोपाल द्वारा चौबीस जनवरी को भारत भवन में आयोजित गरिमामय अलंकरण समारोह में सम्मान भेंट किये जा रहे हैं। इस अवसर पर पद्मश्री से अलंकृत शीर्षस्थ साहित्यकार रमेशचंद्र शाह, भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक और कवि-आलोचक लीलाधर मंडलोई, मंजूर एहतेशाम और मेहरुन्निसा परवेज, डॉ. चित्रा मुद्गल, ममता कालिया और अशोक मिश्रा सहित साहित्य-संस्कृति तथा अन्य विधाओं की मान्य विभूतियाँ आमंत्रित हैं। वनमाली सम्मान की स्थापना का यह रजत जयंती वर्ष है। अपने जीवन और साहित्य में आदर्श मूल्यों की हिमायत करने वाले ख्यात कथाकार-शिक्षाविद स्व. जगन्नाथ प्रसाद चौबे वनमाली की स्मृति के साथ जुड़े ये सम्मान समकालीन कहानी, आलोचना और साहित्यिक पत्रकारिता के केंद्र में मानवीय मूल्यों की तलाश तथा उनकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उल्लेखनीय लेखकीय पुरुषार्थ और उपलब्धियों के लिए प्रदान किये जाते हैं।